Visit Dwarkadheeshvastu.com For
FREE Vastu Consultancy, Music, Epics, Devotional Videos
Educational Books, Educational Videos, Wallpapers
****
All Music is also available in CD format. CD Cover can also be print with your Firm Name
****
We also provide this whole Music and Data in PENDRIVE and EXTERNAL HARD DISK.
Contact : Ankit Mishra (+91-8010381364, dwarkadheeshvastu@gmail.com)

****

AADHUNIK SANTO KI AADHUNIK YATRA

(Hindi)

****

यह पुस्तक क्यों?

जिस 'दुनिया' शब्द का प्रयोग इंसान अमूमन अपनी रोजमर्रा की जिंदगी में करता है उसका व्यावहारिक अर्थ भले ही 'विश्व' से हो या मानचित्र पर सिमटी पूरी 'भोगोलिक पृथ्वी' के गोलाकार से, पर वह दुनिया, जिसे वह 'दुनिया' कह कर संबोधित करता है वह कुछ और नहीं उसके चारों ओर मौजूद लोगों के एक जमावड़े का नाम है जिसके बीच वह पलता और पनपता है, गिरता और संभलता है। अपने जीवन काल में वह जो कुछ भी ले देकर अपने को चुकता करता है वही उसकी वह दुनिया होती है जिसे वह अपने इर्द-गिर्द जीता है, बुनता है और उसमें घटता-बढ़ता है।

इसलिए जीवन में आए या मिले लोग उस इंसान के जीवन को बनाने-बिगाड़ने में एक अहम भूमिका अदा करते हैं। सच तो यह है कि इंसान एक सामाजिक ही नहीं एक सामूहिक प्राणी भी है। समाज और समूह ही उसकी दुनिया की परिभाषा या सीमा को तय करते हैं ऐसे में उसका जीवन दूसरों के जीवन से बहुत कुछ सीखता है। उनसे आकर्षित व प्रभावित होता है।

सच तो यह है कि एक इंसान दूसरे इंसान को खिलने व महकने की कला दे सकता है। उसके भीतर सोई शक्ति व छिपी प्रतिभा को जगा सकता है। किसी का संघर्ष किसी दूसरे के लिए मार्गदर्शन साबित हो सकता है। किसी एक की चुनौतियां किसी दूसरे के लिए सबक बन सकती है। किसी की हार किसी के लिए जीतने की कुंजी बन सकती है। किसी की परिस्थितियां किसी के हताश मन में हौंसला भर सकती हैं। सच तो यह है कि किसी का जीवन किसी दूसरे के लिए उसके जीवन का आधार बन सकता है, उसे प्रेरित व रूपांतरित कर सकता है।

यही कारण है कि बचपन से ही हमारे दादा-दादी के किस्सों में या पाठ्यक्रम की पुस्तकों आदि में प्रेरणादायक कहानियां होती थीं ताकि हम श्रेष्ठ एवं विशेष लोगों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से अपने जीवन को प्रेरित कर सकें। जिस तरह एक दीये से असंख्य दीये जलाए जा सकते हैं उसी तरह एक जागा हुआ इंसान लाखों लोगों को जगाने का माध्यम बन सकता है। यह पुस्तक 'आधुनिक संतों की आध्यात्मिक यात्रा' उसी जागरण का बहाना है। यूं तो किसी भी क्षेत्र में किसी भी विशिष्ट एवं सफल व्यक्ति का जीवन दूसरे को निखारने व प्रभावित करने का माध्यम हो सकता है परंतु

साधु-संतों एवं गुरु-महात्माओं आदि का जीवन व उनकी जीवन यात्रा अपने आप में विशेष महत्त्व रखती है क्योंकि उनकी यात्रा मात्र बाहरी यानी सांसारिक ही नहीं होती बल्कि भीतरी यानी आंतरिक भी होती है। संतों की जीवनियां मात्र ऊपरी सफलता की ओर ही नहीं इशारा करतीं बल्कि आंतरिक आत्मविकास के गुण को भी सिखाती है। संतों-गुरुओं की वाणी हो या मौन, प्रवचन हो या ध्यान सब कुछ उस रहस्य को उद्घाटित करते हैं जिसको पाकर मनुष्य मोक्ष को या महासुख को उपलब्ध हो सकता है।

इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य उन आधुनिक संतों-गुरुओं की आध्यात्मिक यात्रा को आपके सामने लाना है जिनको आप किताबों व टीवी आदि के माध्यम से पढ़ते-सुनते रहे हैं, जिनकी तस्वीरों को देखते व चूमते रहे हैं उन्हें आप उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व से और भी नजदीक से जान व समझ पाएं तथा उनके जीवन से अपने जीवन के बंद रोशनदानों को खोल पाएं। वीणा के वह तार जो आपके पास भी हैं उनमें वह छिपा व सिमटा संगीत प्रकट हो सके। इतना ही नहीं आप व आपके बाद आने वाली पीढ़ी व पीढ़ियां, इस देश के व अन्य देशों के लोगों को भारत के उन आधुनिक संतों-गुरुओं के बारे में ज्ञात हो सके जो इस देश का गौरव रहे हैं व लाखों करोड़ों लोगों के सुखी जीवन का आधार रहे हैं।

यह मेरा सौभाग्य है कि न केवल मासिक आध्यात्मिक पत्रिका 'साधना पथ' के नौ वर्षों के संपादन के दौरान मुझे अनेक संतों एवं गुरुओं से मिलने व साक्षात्कार करने का मौका मिला। बल्कि वह गुरु-संत जो अपनी देह का चोला त्याग चुके हैं उनके बारे में पढ़ने-जानने व उन पर लिखने का सुअवसर भी मिला।

मुझे अपनी इस यात्रा के अंतर्गत इस बात का भी ज्ञान हुआ कि न केवल वह लोग जिन्होंने किसी को अपना गुरु बनाया हुआ है वह अपने गुरु के बारे में और जानना चाहते हैं। बल्कि अन्य लोग भी तथाकथित संत-महात्माओं के बारे में जिज्ञासा रखते हैं। इस जिज्ञासा को देखते हुए मुझे लगा कि क्यों न संतों की जीवनियों को संकलित कर उसे पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जाए। क्योंकि मेरा उद्देश्य संतों के जीवन एवं उनकी आध्यात्मिक यात्रा को आपके समक्ष रखना है इसलिए पुस्तक में लेखन के साथ-साथ मैंने कुछ एक संतों की जीवनियों को संकलन एवं संपादन के माध्यम से भी प्रस्तुत किया है या फिर अपने सहयोगियों द्वारा लिखित जीवनी का भी प्रयोग किया है (जो कि मुश्किल से कुल पांच प्रतिशत होगा) उनका मैं आभार व्यक्त करता हूं।

बहरहाल पुस्तक आपके समक्ष है, मुझे बीच से विदा करें और सीधा संतों के जीवन से संपर्क साधें। इन्हें पढ़ें, गुने और जीवन को प्रेरित कर स्वयं को रूपांतरित करें।

शशिकांत 'सदैव'

विषय सूची

1. स्वामी विवेकानन्द.....9
2. जे. कृष्णमूर्ति.....19
3. ओशो.....30
4. आचार्य महाप्रज्ञ.....36
5. श्री सत्य साई.....42
6. परमहंस योगानंद.....50
7. पं. श्रीराम शर्मा.....62
8. महर्षि रमण.....75
9. स्वामी दयानंद सरस्वती.....85
10. साधु टी.एल. वासवानी.....88
11. दादा वासवानी.....96
12. कृपालु जी महाराज.....104
13. भक्ति वेदान्त श्रील प्रभुपाद.....110
14. स्वामी सत्यमित्रानंद जी गिरी.....116
15. श्री श्री रविशंकर.....122
16. सुधांशु जी महाराज.....128
17. आसाराम बापू.....133
18. मुरारी बापू.....143
19. किरीट भाई.....148
20. डा. प्रणव पांड्या.....154

21. आचार्य श्री महाश्रमण.....158
22. संत राजिन्दर सिंह जी.....171
23. बाबा हरदेव सिंह जी.....183
24. स्वामी सुखबोधानंद जी.....187
25. ब्रह्मर्षि कुमार स्वामी.....191
26. सद्गुरु जग्गी वासुदेव.....199
27. आचार्य सुदर्शन जी महाराज.....205
28. प्रमुख स्वामी महाराज.....215
29. पायलट बाबा.....221
30. दलाई लामा.....225
31. अवद्यूत बाबा शिवानंदजी.....230
32. स्वामी हरि चैतन्य महाप्रभु.....237
33. स्वामी ज्ञानानंद जी महाराज.....245
34. माता अमृता नंदमयी (अम्मा).....255
35. निर्मला देवी.....260
36. गुरू मां आनंदमूर्ति.....265
37. दीदी मां साध्वी ऋतम्भरा.....269
38. मुनीश्री तरूणसागर.....279
39. प्रजापिता ब्रह्मा बाबा.....285
40. स्वामी अवधेशानंद गिरी.....291
41. बाबा रामदेव.....294
42. स्वामी नित्यानंद.....302

1

स्वामी विवेकानन्द

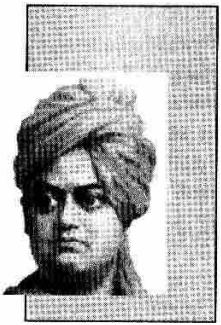

जिन्हें आज पूरा विश्व स्वामी विवेकानंद के नाम से जानता है उनका वास्तविक एवं बचपन का नाम नरेंद्र था। नरेंद्र से हुए विवेकानंद एवं विवेकानंद से हुए स्वामी विवेकानंद के पीछे भी एक दिलचस्प घटना एवं लंबी यात्रा है।

12 जनवरी, 1863ई. में कलकत्ता के एक संपन्न परिवार में उनका जन्म हुआ। पिता 'विश्वनाथ दत्त' एक प्रसिद्ध वकील थे। माता भुवनेश्वरी देवी धार्मिक विचारों की महिला थीं।

बचपन

माता जी रात्रि में उन्हें जब रामायण की कहानियां सुनाती तो वे हनुमान जी की बहुत प्रशंसा करते साथ ही भगवान शिव को अपना आराध्य मानते और अक्सर अपनी मां से हंसकर कहते, 'मां मैं शिव हूं।' उनकी बातें सुन मां मन ही मन डरती और सोचने लगती कि कहीं ये भी अपने दादा जी की तरह संन्यासी ना हो जाए। उनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि बचपन से ही वो अपने से छोटे ही नहीं बड़े बच्चों का भी नेतृत्व किया करते थे, इनसे बड़े बच्चे भी इन्हें अपना नेता कहने में नहीं झिझकते थे।

घर के खुले वातावरण ने नरेंद्र की बहुमुखी प्रतिभा को उभारने में पूरा योगदान दिया। नरेंद्र स्वभाव से ही दानशील थे। द्वार पर आए किसी भी साधु को खाली हाथ लौटाना उन्हें नहीं भाता था। बचपन से कुशाग्र बुद्धि के होने के कारण नरेंद्र सदैव अध्यापकों के चहेते शिष्य रहे। अध्यापकों ने कई बार देखा कि वे एक ही समय में दो विपरीत मनोदशा वाले कार्य भी सहजतापूर्वक कर लेते थे। तैराकी, घुड़दौड़, खेल-कूद के अलावा वे वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में भी उत्साहपूर्वक भाग लेते।

नरेंद्र ने संगीत के प्रति रुचि विरासत में पाई थी। उन्होंने निरंतर पठन-पाठन से मस्तिष्क की शक्ति का इतना विकास कर लिया था कि वह पृष्ठ की प्रथम और अंतिम पंक्ति पढ़ कर ही लेखक का आशय जान लेते थे। इस विषय में वे स्वयं लिखते हैं- जब कहीं लेखक वाद-विवाद के द्वारा अपनी बात के स्पष्टीकरण के लिए चार-पांच पृष्ठ या इससे भी अधिक पृष्ठ ले लेता, वहां मैं कुछ पंक्तियों को पढ़ कर ही उनके तर्क के झुकाव को समझ लेता।

ईश्वर दर्शन की तीव्र अभिलाषा

नरेंद्र के हृदय में बचपन से ही ईश्वर दर्शन की तीव्र अभिलाषा थी। अनेक विद्वानों व महापुरुषों से भेंट होते ही वह एक प्रश्न अवश्य पूछते थे- क्या आपने ईश्वर को देखा है? युवा अवस्था में ही पिता का साया सर से उठ जाने के कारण नरेंद्र का मन अध्यात्म की तरफ बढ़ने लगा, इसी लगन ने उनकी भेंट 'रामकृष्ण परमहंस' से कराई। भेंट होते ही नरेंद्र ने अपना चिर-परिचित प्रश्न पूछा तो वे बोले-

'हां, क्यों नहीं, मैंने उसको इतने ही स्पष्ट रूप से देखा है, जितना मैं तुझे देख रहा हूं तथा ऐसे ही बातचीत की है जैसे तुझसे कर रहा हूं।'

ईश्वर का साक्षात्कार तो कोई भी कर सकता है किंतु परवाह किसे है। अपनी संपत्ति व संतान के लिए तो सभी आंसू बहाते हैं परंतु भगवान प्राप्ति के लिए यह सब कौन करता है? यदि कोई ईमानदारी से उसके लिए रोएगा तो वह अवश्य प्रकट होगा।

गुरु के मानस पुत्र बने

नरेंद्र के व्यक्तित्व में गुणों व विवेक की आभा देखकर ही रामकृष्ण परमहंस व उनकी पत्नी माता शारदा देवी ने उन्हें अपना मानस पुत्र घोषित किया।

नरेंद्र ने सच्चे गुरु को पा लिया। बी.ए. की परीक्षा देने के बाद उन्होंने वकालत की पढ़ाई आरंभ की। इस बीच पिता चल बसे और कुटुंब पर आर्थिक संकट के बादल गहराते चले गए। कई-कई बार तो उन्हें भूखे ही रहना पड़ता था। परिवार के आग्रह पर नरेंद्र ने गुरु से याचना की 'मुझे काली के दर्शन करवा दें ताकि मैं परिवार के लिए सहायता मांग सकूं।'

उत्तराधिकारी घोषित

आशा के विपरीत मां काली से साक्षात्कार होते ही नरेंद्र के यह भाव तिरोहित हो गए और उन्होंने विवेक, वैराग्य, ज्ञान व मुक्ति की ही कामना की। ऐसा तीन बार हुआ

परंतु नरेंद्र अपने परिवार के लिए धन नहीं मांग पाए। रामकृष्ण जी अपने शिष्य की आत्मिक शक्तियों को पहचान चुके थे। यद्यपि नरेंद्र की दुविधाओं का अंत नहीं था परंतु गुरु ने सारे भ्रम मिटा दिए। गुरु ने नरेंद्र को अपनी आध्यात्मिक शक्तियां सौंप दीं। उन्होंने अपनी मृत्यु से पूर्व नरेंद्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।

आत्मविश्वास के धनी

श्री रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानंद को ध्यान साधना कराई लेकिन समाधि तक जाने से रोक दिया। विवेकानंद के पूछने पर रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानंद से कहा- 'तुम्हें लोक सेवा का कार्य करना है और आत्म साधना के बिना लोक साधना संभव नहीं। जो स्वयं नहीं बना वह दूसरों को क्या बनाएगा, इसके लिए साधना जरूरी है।'

अपनी मृत्यु को समीप देख रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानंद को अपने पास बुलाया और अपने हृदय से लगाते हुए बोले 'विवेकानंद अब मेरे सब बच्चों की जिम्मेदारी तुम्हारी है।' बीमारी की अवस्था में गुरु को इस तरह बोलते देख विवेकानंद गुरु का सर अपनी गोदी में रखकर फूट-फूट कर रोने लगे, तब रामकृष्ण परमहंस ने प्यार से उन्हें समझाया कि मैं हमेशा तुम्हारे ही आसपास रहूंगा और तुम्हें हमेशा निर्देशित करता रहूंगा, परंतु अब तुम्हारा जन सेवा में लगने का समय आ गया है। विवेकानंद ने गुरु की आज्ञा को जीवन में उतारने के लिए रामकृष्ण परमहंस को शिक्षाओं को पूरे भारत के साथ विश्व में प्रचारित करने का बीड़ा उठाया।

विवेकानंद पूरे आत्मविश्वास से कहते थे कि 'अगर मुझे मुट्ठी भर कर्मशील युवा मिल जाएं तो मैं भारत ही नहीं समस्त मानव जाति की सोच को बदलकर रख दूंगा।'

'यदि वास्तविक सत्य कुछ है और संसार में यदि दार्शनिकता के बारे में मैंने कुछ भी कहा है तो इसका श्रेय उन्हीं को है। धर्म अनुभूति की वस्तु है, तर्क की नहीं।'

धर्म शब्द की नई परिभाषा

विदेशों में भारत का परचम लहराने वाले एक ऐसे शख्स थे विवेकानंद जिन्होंने हिन्दी में अध्यात्म की बातों को संबोधित किया। ऐसी प्रथम शुरुआत की थी उन्होंने ।। सितंबर, 1893 में अमेरिका में शिकागो सम्मेलन में। ये एक ऐसा धर्म सम्मेलन था जिसमें विश्व के कोने-कोने से लोग यहां आए थे, धर्म पर चर्चा करने के लिए यहां भारत का प्रतिनिधित्व करने वाले विवेकानंद सभी धर्म प्रचारकों में सबसे छोटी उम्र के वक्ता थे। पर गेरुए वस्त्रों में जैसे ही वे मंच की तरफ बढ़े वैसे ही उनके व्यक्तित्व की छाप से चारों ओर शोरयुक्त माहौल में खुद-ब-खुद चुप्पी छा गई, जहां सभी वक्ता

कागजों पर पूर्व लिखित भाषण बोलकर गए थे वहीं विवेकानंद के पास ऐसा कोई भी कागज नहीं था। पर जैसे ही उन्होंने पूर्ण आत्मीय स्वर में संबोधित किया-

'मेरे अमेरिका वासी भाई-बहनो।'

यह संबोधन सुनते ही पूरा हाल तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज उठा। विदेशी इस अनोखे संन्यासी के विचारों को सुन मुग्ध हो उठे। वे एक संन्यासी के स्पष्ट उच्चारण से आश्चर्यचकित थे। जिस भारत को वे आज तक छोटा, हीन तथा मूर्ख देश समझते आए थे। उसी भारत के एक नागरिक ने उन्हें धर्म शब्द की नई परिभाषाएं सिखा दी।

पहला व्याख्यान

विवेकानंद का पहला व्याख्यान था 'कि जैसे नदियां अलग-अलग धाराओं में बहती हैं पर अंत में एक ही समुद्र में जा मिलती हैं उसी तरह दुनिया में हर इंसान अलग-अलग धर्मों में पैदा होता है परंतु अंत में उसे एक ही ईश्वर की शरण में वापस लौटना होता है, इसलिए किसी भी धर्म को कम या ज्यादा मानना एक भूल है क्योंकि सभी धर्म समान हैं।' विवेकानंद के विचार इतने स्वाभाविकता से भरे थे वहां उपस्थित जनसमूह के मानस पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ने में कामयाब रहे। मात्र तीन मिनट में विवेकानंद ने भारत के साहित्य, मनोविज्ञान, दर्शन और स्वर्णिम इतिहास को अमेरिका के कोने-कोने में फैला दिया था।

फैली ख्याति

विवेकानंद की ख्याति चारों ओर फैल गई। न्यूयार्क के 'हेराल्ड' नामक पत्र ने उनके विषय में लिखा-

'सर्वधर्म सम्मेलन में सबसे महान व्यक्तित्व विवेकानंद का है। उनका भाषण सुन लेने पर अनायास यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसे ज्ञानपूर्ण देश को सुधारने के लिए हमारे यहां से धर्म प्रचारकों को भेजना कितनी मूर्खता है।'

इसके तुरंत बाद विवेकानंद ने इंग्लैंड में अपनी पताका फहराई, इंग्लैंड के समाचार पत्रों ने उन्हें 'हिंदू योगी' के नाम से संबोधित किया। इंग्लैंड निवासियों ने विवेकानंद के विचारों को न केवल आत्मसात किया बल्कि उनमें से एक 'मारग्रेट निवेदिता' तो विवेकानंद की शिष्या बन भारत आ गई जिन्हें विवेकानंद ने नाम दिया 'भगिनि निवेदिता' ये जीवन पर्यंत भारत में ही रहीं।

रामकृष्ण मिशन की स्थापना

अपनी चार वर्षों की यात्रा के उपरांत विवेकानंद ने 1897 ई. में कलकत्ता के समीप बेलूर में रामकृष्ण मिशन व मठ की स्थापना की। यह मठ भारतीय सिद्धांतों को एक नए रूप में लाना चाहता था। इसी मठ द्वारा स्वामी जी ने ईसाई धर्म प्रचारकों की उस परंपरा को आगे बढ़ाया जो देशवासियों की सेवा द्वारा उन्हें धर्म परिवर्तन के लिए विवश कर देते थे।

स्वामी जी अपने स्वास्थ्य की परवाह न करते हुए देश-विदेश में भ्रमण करते रहे। निंदकों का अभाव न था परंतु वे अपने पथ और मन से विचलित नहीं हुए। उन्होंने प्रत्येक स्थान पर अद्वैतवाद का पताका फहराया।

मिली विवेकानंद की उपाधि

संन्यास ग्रहण करने के बाद स्वामी जी ने कई बार अपना नाम बदला क्योंकि वे एक सच्चे परिव्रामक के रूप में भारत की यात्रा करना चाहते थे। और एक ही नाम होने पर पहचान लिए जाने का भय बना रहता था। कभी वे 'सच्चिदानंद' बन जाते तो कभी 'विविदिशानंद' जब उनका परिचय खेतरी नरेश से हुआ तो महाराज ने हंसी-हंसी में कहा-

स्वामी जी! आपके नाम का अर्थ समझना तो दूर, हम तो उच्चारण भी नहीं कर पाते।

अच्छा! तो मेरा नाम क्या होना चाहिए? स्वामी जी ने पूछा-

'आपका नाम विवेकानंद हो तो अच्छा रहेगा।'

ठीक है। मैं आज से स्वामी विवेकानंद कहलाऊंगा। स्वामी जी ने मित्र की इच्छा को मान देते हुए अपना नाम विवेकानंद रख लिया और इसी नाम से जगतख्याति पाई।

चिरनिद्रा में लीन

दिन रात की कड़ी मेहनत व भागम-भाग वाली परिस्थिति ने उनके शरीर को खोखला करना शुरू कर दिया था, शिष्यों के आग्रह पर वे बेलूर मठ में ही रहने लगे। 4 जुलाई, 1902 को स्वामी विवेकानंद अपने कक्ष में बिछे मृगासन पर समाधिस्थ थे। समाधि से उठते ही वे अपने बिस्तर पर लेट गए और यही निद्रा उनकी अंतिम निद्रा थी।

लाखों लोगों को रास्ता दिखाकर स्वामी विवेकानंद सदा के लिए चिरनिद्रा में लीन हो गए। यद्यपि वे शरीर से धरती पर विद्यमान नहीं है परंतु उनके विचार सदा मानव

जाति का मार्गदर्शन करते रहेंगे कि 'आत्म विश्वास से बढ़कर मनुष्य का कोई मित्र नहीं है, आत्मविश्वास ही भावी उन्नति की प्रथम सीढ़ी है। हर धर्म समान रूप से यही संदेश देता है।'

महान राष्ट्र निर्माता

स्वामी विवेकानंद की प्रतिभा सर्वोत्तमुखी थी। ये योगी, तत्त्वदर्शी, गुरु, नेता, ज्ञानी, धर्मप्रचारक और एक महान राष्ट्र निर्माता थे। इन्होंने पाश्चात्य देशों में वहां के निवासियों के समक्ष भारतीय धर्म का खजाना खोलकर देश का सिर ऊंचा किया।

स्वामी विवेकानंद में स्वामी शंकराचार्य की बौद्धिक शक्ति एवं भगवान बुद्ध के हृदय का विस्मय जनक सम्मिश्रण था। इन्होंने अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस की स्मृति में देश के विभिन्न भागों में सेवाश्रम स्थापित कर अपने कथन प्राणी मात्र की सेवा करना ही ईश्वर की सच्ची पूजा है को चरितार्थ कर दिखाया। और आज भी वे अपने महान कार्यों व विचारों से प्रत्येक भारतीय के हृदय में विराजमान हैं। उनके द्वारा स्थापित विचार, आदर्श व सिद्धांत जिसके द्वारा उन्होंने भारत ही नहीं, अपितु विश्व को भी एक नई दिशा प्रदान की थी। जो इस प्रकार हैं-

वेदांत दर्शन- विवेकानंद वह ज्ञान पुंज है जिसकी ज्योति में धर्म और अध्यात्म को नई दिशा मिली। उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा और आध्यात्मिक अनुभवों के आधार पर वेदांत दर्शन की विभिन्न समस्याओं तथा ब्रह्म, माया, जीव व संसार से संबंधित वेदांत की सभी कठिनाइयों का ऐसा हल निकाला जो साधारण मनुष्य के तर्कों पर खरा उतरता है। स्वामी विवेकानंद का वेदांत दर्शन वन-कंदराओं में एकांत चिंतन-मनन की साधना नहीं बल्कि व्यावहारिक दर्शन है। स्वामी विवेकानंद ने अपने वेदांत दर्शन में कहा है सफलता प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्न और तीव्र इच्छा रखो, कड़ा परिश्रम करो। तुम अपने उद्देश्य को निश्चय ही पा जाओगे। शक्ति ही जीवन और कमजोरी ही मृत्यु है।

निष्काम जीवन- विवेकानंद के उपदेश सदा ही निष्काम जीवन पर बल देते हैं। हमारे समस्त जीवन का व्यवहार ईश्वर के लिए हो, यही है कर्म साधना। उनका व्यावहारिक वेदांत अंतिम अवस्था में ज्ञान भक्ति और कर्म का सम्मिश्रण है। उनकी इच्छा थी कि संसार की समस्त मानव-जातियों में प्रेम और एकता का साम्राज्य स्थापित हो और यह केवल भारत जागरण से संभव है।

अध्यात्म का व्यावहारिक रूप- स्वामी विवेकानंद दीन-दुखियों की सेवा को ही ईश्वर की पूजा मानते थे। इस सेवा के समक्ष वे मोक्ष को तुच्छ मानते थे। इस

सेवा भावना के साथ ही उन्होंने प्रेम भावना पर भी बल दिया। ऊंच-नीच, भेद-भाव, छुआ-छूत, पाप-घृणा आदि को उन्होंने नीच कर्मों की संज्ञा दी तथा भारतीय जनमानस को प्रेम, दया, करुणा, सेवा, आत्मविश्वास, साहस आदि का महत्त्व समझाया। उनके अनुसार- 'कर्म करना अच्छा है, लेकिन कर्म करने की इच्छा का प्रादुर्भाव विचारों से ही होता है। इसलिए अपने हृदय व मस्तिक में उच्च आदर्शों व विचारों को प्रतिष्ठित कर लो।' स्वामी विवेकानंद दृढ़ चरित्र को सर्वोपरि मानते थे। उनके अनुसार- 'अगर कोई व्यक्ति दृढ़ चरित्र वाला है, तो उसे कोई अमर होने से नहीं रोक सकता है।'

विश्व गुरु बने

सर्वधर्म समभाव- स्वामी विवेकानंद का स्पष्ट मत था कि 'केवल सर्वधर्म समभाव से मानवता का कल्याण हो सकता है।' वे धर्म को केवल संप्रदायवाद या कर्मकांड तक ही सीमित नहीं मानते थे। उनके अनुसार- 'धर्म सत्य का अनुसंधान करने वाली एक संस्था है।'

विवेकानंद ने हिंदू धर्म का समर्थन इसलिए किया क्योंकि यह धर्म नैतिक मानववाद और आध्यात्मिक आदर्शवाद का एक सार्वभौमिक रूप है। विवेकानंद ने इंग्लैंड व अमेरिका में जगह-जगह पर धर्म सहिष्णुता संबंधी विचार व्यक्त किए। उन्हें यह देखकर दुःख होता था कि संसार के दूसरे धर्म सर्वधर्म समभाव की धारणा का विरोध करते हैं उनकी अवधारणा इतनी संकीर्ण है कि वे केवल अपने धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, स्वामी विवेकानंद कहते थे कि इस संसार को अब भी महान शिक्षा की आवश्यकता है। संसार को भारतवर्ष से दूसरों के धर्म के प्रति सहिष्णुता व सहानुभूति रखने की शिक्षा ग्रहण करनी होगी।

विवेकानंद द्वारा उक्त सिद्धांतों में की गई धर्म मानवता और धर्म सहिष्णुता की समीक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वामी विवेकानंद का दर्शन भारत हीं नहीं बल्कि विश्व मानवता हित के लिए सार्थक है। उनके द्वारा प्रतिपादित दर्शन को किसी एक देश की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता है। वे विश्व के समस्त देशों व मनुष्यों को मानवता का संदेश सुनाने आए थे। धार्मिक संकीर्णता के विरुद्ध वे चाहते थे कि विश्व के सभी लोग एक दूसरे के धर्मों का सम्मान करें तथा उन्हें समझें। स्वामी विवेकानंद वास्तव में विश्व गुरु थे। उनके द्वारा दिखाई गई विश्व भाईचारे की दिशा की वर्तमान समय में ज्यादा आवश्यकता है।

दयालु और स्नेही

स्वामी विवेकानंद बाल्यकाल से ही दयालु व स्नेही थे। दीन-दुखियों के कष्ट उन्हें द्रवित कर देते थे। साधु-संतों को देखते ही उनके भीतर सेवा-भाव उमड़ आता। घर में सब उन्हें प्यार से नरेंद्र कहते थे। साधुओं को जिस वस्तु की आवश्यकता होती नरेंद्र उसी क्षण घर से ले आता। सर्दियों के दिन थे, एक साधु ने आकर गर्म वस्त्र मांगा तो नरेंद्र भीतर से पिता का रेशमी दुपट्टा ले आया। साधु प्रसन्न हो आशीर्वाद दे कर लौट गया। नरेंद्र की बढ़ती दानशीलता से दुखी होकर उसे घर की दूसरी मंजिल पर रखा जाने लगा ताकि वह याचकों को मुंहमांगा दान न दे सके।

अगले दिन द्वार पर कुछ साधु आए और भिक्षा मांगने लगे। घर की नौकरानी ने अन्न देकर द्वार बंद कर लिए। नरेंद्र ने ऊपरी मंजिल से साधुओं को देखा जिनके तन पर पूरे वस्त्र भी नहीं थे उन्होंने उसी क्षण खूंटी पर टंगे पिता के वस्त्र उतारे और बाहर फेंक दिए। इस घटना की चर्चा पिता तक पहुंची तो नरेंद्र की पेशी हुई। बालक ने विनम्र भाव से कहा- 'पिताजी! आपने ही तो सिखाया है कि दीनों की सहायता करो। फिर यदि मैं सहायता करता हूं तो परिवारजन मुझे रोकते क्यों हैं? क्या कथनी और करनी में अंतर होता है।'

पिता जी निरुत्तर हो गए परंतु कहना न होगा कि उस दिन से नरेंद्र के ऊपर लगे बंधन हटा दिए गए।

विलक्षण प्रतिभा के धनी

नरेंद्र 'ईश्वरचंद्र विद्यासागर विद्यालय' का छात्र था। एक दिन कक्षा में वह पीछे बैठे छात्रों से वार्तालाप में व्यस्त था। अध्यापक ने उसी समय पढ़ाए गए पाठ के कुछ प्रश्नों के उत्तर पूछ लिए। नरेंद्र ने बड़ी सहजता से प्रश्नों के उत्तर दे दिए। तब अध्यापक ने कहा- जो लड़के बातें कर रहे थे, वे सब खड़े हो जाएं। नरेंद्र भी खड़ा होने लगा तो वे बोले- तुम तो पाठ सुन रहे थे। तुमने प्रश्नों के उत्तर भी दिए हैं, तुम बैठे रहो। नरेंद्र ने कहा- जी नहीं! मैं भी बातें कर रहा था इसलिए सजा मुझे भी मिलनी चाहिए।

अध्यापक ने आश्चर्य से कहा- तुम तो मेरा पाठ सुन रहे थे। नरेंद्र ने उनके विस्मय को देख कर उत्तर दिया- 'श्रीमान! मैं यह दोनों काम एक साथ कर रहा था। यदि पूरा ध्यान लगाया जाए तो भिन्न प्रकृति के काम भी एक साथ हो सकते हैं। पूरी कक्षा और अध्यापक महोदय नरेंद्र के उत्तर को सुन मुग्ध हो उठे।'

एंट्रेंस में आते-आते नरेंद्र बंगला व अंग्रेजी साहित्य की अनेक पुस्तकें पढ़ चुका था। जब परीक्षाएं सिर पर आई तो उसे पता चला कि वह ज्यामिती शास्त्र में कमजोर है। नरेंद्र ने निश्चय किया कि वह ज्यामिति का पाठ्यक्रम पूरा किए बिना उठेगा नहीं।

उसने पूरी रात तन्मयता से पढ़ाई की और संबंधित विषय की चार पुस्तकें तैयार कर लीं। परीक्षा में नरेंद्र ने प्रथम स्थान पाया। यह असामान्य प्रतिभा नहीं तो और क्या थी?

स्वाभिमानी संन्यासी - नरेंद्र अपनी युवावस्था में स्वामी विवेकानंद कहलाने लगे। स्वामी विवेकानंद भारत-भ्रमण पर निकले। गुजरात यात्रा में एक भक्त ने उन्हें द्वितीय श्रेणी का रेल टिकट खरीद दिया। उसी डिब्बे में कुछ अंग्रेज यात्री भी बैठे थे। स्वामी जी का गेरूआ वस्त्र देख उन्होंने अंग्रेजी भाषा में टिप्पणियां शुरू कर दीं।

पहला यात्री बोला- जाने कहां-कहां से भिखमंगे गाड़ी में आ जाते हैं?

दूसरे यात्री ने कहा - इन्हीं साधुओं ने पूरे भारत को अंधविश्वासों और पाखंडों में जकड़ रखा है। तभी तो ये मुखं हमारे गुलाम हैं।

तीसरा यात्री बोला- जंगलियों का देश है, लोग भी जंगली हैं। इन अनपढ़ साधु-संतों का कोई काम-धंधा तो है नहीं, बस मुफ्त की रोटी और मौज-मस्ती, यही इनका जीवन है।

स्वामी जी चुपचाप सब कुछ सुनते रहे। गाड़ी स्टेशन पर रुकी तो वहां से स्टेशन मास्टर गुजरे। स्वामी जी ने उनसे अंग्रेजी में पानी का प्रबंध करने का आग्रह किया। स्टेशन मास्टर इस अद्वितीय व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ। तत्क्षण पानी की व्यवस्था हो गई। वह गाड़ी चलने तक स्वामी जी से वार्तालाप करता रहा। गाड़ी चलने पर उसने प्रणाम किया। सहयोगी यात्री स्वामी जी के धारा प्रवाह अंग्रेजी वार्तालाप और विद्वता को देख स्मित हो उठे। जिसे वे एक अनपढ़ साधु समझकर छोटा कशी कर रहे थे वह इतना विद्वान निकला। एक यात्री ने साहस कर पूछ ही लिया- आप हमारी सारी बातें समझ रहे थे फिर भी आपको क्रोध नहीं आया? स्वामी जी ने सहज भाव से उत्तर दिया-

'मित्रो! मेरे साथ तो ऐसा होता ही रहता है। मूर्खों से मेरा पाला पड़ता ही रहता है।' उत्तर सुन कर उन यात्रियों पर घड़ों पानी पड़ गया और उन्होंने सिर झुका लिया।

सामाजिक भेदभाव से परे

स्वामी विवेकानंद वृंदावन की यात्रा पर थे। गेरुए वस्त्र, हाथ में कमंडल और पुस्तकें, जहां थकते, वहां रुक कर विश्राम कर लेते। कोई दयालु कुछ खाने को दे देता तो भोजन कर लेते। एक दिन चलते-चलते थक गए तो सड़क के किनारे बैठे व्यक्ति को चिलम पीते देखा। उससे चिलम लेने के लिए आगे बढ़े तो वह सकुचा कर पीछे हट गया- नहीं महाराज! मैं तो अछूत हूं- आप मेरी चिलम कैसे पिएंगे?

पारंपरिक संस्कारों के कारण स्वामी जी भी दो कदम पीछे हटे और अपने पथ पर चल पड़े। तभी उनके मस्तिस्क में विचार आया- यह मैं क्या कर रहा हूं? मैं तो

संन्यासी हूं और संन्यासी मान-मर्यादा, छुआ-छूत और सभी भेद-भावों से परे होता है। मैं मेहतर के हाथ की चिलम क्यों नहीं पी सकता? उसमें और मुझमें क्या भेद है? एक ही ईश्वर ने हमारी रचना की है। हम एक ही पिता के पुत्र हैं।

यह विचार मस्तिष्क में आते ही स्वामी जी लौटे और उस मेहतर से कहा- भाई! मैं तुम्हारी चिलम पीना चाहता हूं।

मेहतर चिलम देने को तैयार नहीं था। भला वह जूठी चिलम एक साधु को कैसे दे सकता था परंतु स्वामी जी ने उसकी एक न मानी और चिलम के दो कश लगा कर ही आगे की यात्रा आरंभ की। इस घटना के बाद वह जाति-पांति और भेदभाव को भूल गए। उनके लिए छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब सब एक समान बन गए। इसी भावना के वशीभूत होकर वे अपने अलवर प्रवास के दौरान राजमहल के शाही पकवान त्याग कर एक गरीब वृद्धा के घर भोजन करने जा पहुंचे और उन मोटी रोटियों को स्वाद से खाते हुए अपने शिष्यों से कहा था- 'देखो! इन मोटी चपातियों में कैसी सात्विकता छिपी है। मां का वात्सल्य ही तो अपनी थाती है, देश का गौरव है।'

नारियों के प्रति दिल में सम्मान

स्वामी विवेकानंद नारी जाति को बहुत आदर दृष्टि से देखते थे। उनके जीवनकाल में अनेक देशी-विदेशी स्त्रियां उनके वचनों से प्रभावित हुईं और उनकी शिष्याएं कहलाईं। स्वामी जी ने विदेशी महिलाओं के सम्मुख भारत की गरिमा और महानता का ऐसा खाका खींचा कि वह आजीवन वहीं की होकर रह गईं। एक बार वे 'मादाम काल' और 'कुमारी मैक्लीउड' के साथ मिस्र भ्रमण पर थे। बातचीत करते-करते वे सब ऐसे स्थान पर पहुंच गए जहां वेश्याएं रहती थीं। यहां आधे-अधूरे वस्त्रों में महिलाएं खिड़कियों से झांक रही थीं और बेंचों पर बैठी थीं। यह देखकर मादाम काल सकपका गईं और स्वामी जी से लौटने का अनुरोध किया। बेंच वाली महिलाएं इस भगवा वस्त्र वाले साधु को देख खिलखिला रही थीं और भद्दे-भद्दे इशारे कर रही थीं।

स्वामी जी उन्हीं के पास जा पहुंचे और दुःखी स्वर में बोले- 'जरा देखो तो सही, रूप की उपासना में इन अभागिनों ने ईश्वर को भी भुला दिया परंतु वह इनको नहीं भूला।' स्वामी जी की आंखों से झर-झर आंसू बह रहे थे। उन स्त्रियों के अधःपतन को देख वे विचलित हो उठे थे। उन स्त्रियों में से कुछ ने लज्जित हो कर प्रणाम किया और कुछ ने लज्जा व ग्लानि से अपना मुख ढक लिया। पहली बार किसी पुरुष ने उनकी देह की बजाय हृदय को छू लिया था।

■

2

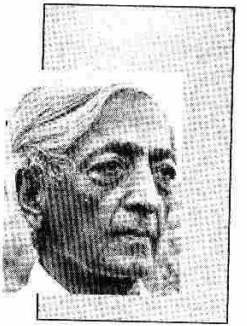

जे. कृष्णमूर्ति

जे. कृष्णमूर्ति समकालीन भारतीय दर्शन के एक विशिष्ट हस्ताक्षर हैं। यद्यपि उन्होंने अपने दर्शन की स्थापना के लिए व्यवस्थित रूप से एक जगह कहीं-कुछ नहीं लिखा है, लेकिन उनके लेखों, भाषणों, प्रश्नोत्तरों अथवा टिप्पणियों के द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है, उसके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक दार्शनिक हैं और सर्वथा अनूठे ढंग से अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए उन्हें एक स्वतंत्र विचारक की संज्ञा दी गई है।

उन्हें ऐसा करने का कारण यह है कि उनकी चिंतन-पद्धति परंपरागत नहीं है। वे न तो कोई सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं और न ही किसी विश्वास की सिद्धि पर बल देते हैं। इनके विपरीत वे इन विश्वासों का विरोध ही करते हैं। इसीलिए उन पर परंपरा विरोधी होने का आरोप भी लगाया जाता है। परंतु वास्तव में यह आरोप सही नहीं है।

थिआसफिकल सोसाइटी की संस्थापिका 'मादाम ब्लावाट्स्की' ने अपनी मृत्यु के पहले लिख रखा था कि सोसाइटी का असली मकसद था- आने वाले नए मसीहा के अवतरण के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि तैयार करना। थिआसफिस्टों के मान्यता थी कि बोधिसत्त्व मैत्रेय शीघ्र ही एक मनुष्य शरीर में अवतरित होने वाले हैं तथा इस अवतरण के लिए सर्वथा अनुकूल एक मानव-शरीर खोज कर उसकी यथोचित परवरिश करनी होगी।

एक ओर करुणावतार बोधिसत्त्व मैत्रेय के अवतरण के लिए अनुकूल मनुष्य शरीर की खोज जारी थी, तो दूसरी ओर किसी मां की कोख में वह मनुष्य-शरीर साकार हो रहा था।

जन्म

दक्षिण भारत के आंध्र प्रदेश में मदनापल्ली नाम का एक गांव है। वहां पर ईसवी सन् 1895 के मई महीने की 11 तारीख को, मध्यरात्रि के साढ़े बारह बजे, जिद्दू नारायणैया की पत्नी संजीवम्मा को एक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। उसका नाम रखा गया 'कृष्णमूर्ति'। यही वह असाधारण बालक है जो आगे चलकर विश्व-शास्ता जे.कृष्णमूर्ति के रूप में प्रसिद्ध हुआ। 'नारायणैया' एक सेवानिवृत्त सरकारी मुलाजिम थे। वे थिआसफिकल सोसाइटी के सदस्य थे। जब अपने बृहत् परिवार की परवरिश अपने मामूली निवृत्ति-वेतन में करना उनके लिए असंभव हो गया, तो उन्होंने थिआसफिकल सोसाइटी की उस समय की अध्यक्षा 'मिसेस एनी बेसेंट' को पत्र लिख कर कोई नौकरी मांगी। काफी सोच-विचार के बाद नारायणैया को सोसाइटी के इसोटेरिक सेक्शन के असिस्टेंट सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त किया गया। अब नारायणैया थिआसफिकल सोसाइटी के कंपाउंड के बाहर एक छोटा सा मकान लेकर अपने परिवार समेत वहां रहने आ गए।

एनी बेसेंट ने गोद लिया

नारायणैया के बेटे अड्यार समुद्र-तट पर नहाने जाया करते थे। मिसेस एनी बेसेंट के एक सहयोगी, तथा अतींद्रिय-दृष्टिसंपन्न थिआर्सोफस्ट, 'मिस्टर लेडबीटर' की नजर समुद्र तट पर नहाने आए लड़कों में से एक लड़के की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुई। लेडबीटर ने कई दिन उसकी निगरानी की। उन्होंने देखा कि उस लड़के का प्रभामंडल असाधारण है तथा उसमें स्वार्थ का नमोनिशां नहीं है। यह लड़का था कृष्णमूर्ति। 'मिस्टर लेडबीटर' ने कृष्णमूर्ति का परिचय 'मिसेस बेसेंट' से करवाया। 'मिस्टर लेडबीटर' तथा 'मिसेस बेसेंट' दोनों इस नतीजे पर पहुंचे कि अहं-भाव से पूर्णतः मुक्त तथा पूर्णतः रिक्त मस्तिष्क वाला यह बालक ही बोधिसत्त्व मैत्रेय के अवतरण के लिए सर्वथा अनुकूल वह माध्यम है। थिआसफिकल सोसाइटी की गुह्य विद्या की परंपरा के आदेशानुसार, मिसेस बेसेंट ने कृष्णमूर्ति को गोद ले लिया तथा उसके शरीर और मन को उस दिव्य अवतरण के लिए पूर्णतः समर्थ बनाने के उद्देश्य से उसकी यथोचित परवरिश का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर ले लिया।

शिक्षा-दीक्षा

कृष्णमूर्ति के पिता 'जिद्दू नारायणैया' को किसी तरह राजी कर, मिसेस बेसेंट कृष्णमूर्ति को अपने साथ इंगलैंड ले गईं। वहां घर पर ही उसकी पढ़ाई का प्रबंध किया

गया। उसे पढ़ाने के लिए बढ़िया से बढ़िया अध्यापक नियुक्त किए गए। लेकिन उन अध्यापकों को चेतावनी दी गई कि कृष्ण को केवल लौकिक शिक्षा दी जाए और किसी भी धार्मिक शिक्षा से उसे बिल्कुल अछूता रखा जाए (हां, जो समूची मानव जाति को सच्चा धर्म सिखाने के लिए ही पैदा हुआ है, उसे भला धर्म क्या सिखाया जाए) कहते हैं कि कृष्णमूर्ति ने अपने जीवन भर किसी भी धर्म की कोई भी किताब नहीं पढ़ी। ऐसा कहा जाता है कि कृष्णमूर्ति का बालक जीवन गुह्य गुरु-परंपरा के साथ उत्कृटता से जुड़ा हुआ था, और लंबे समय तक, हर दिन कृष्णमूर्ति के सूक्ष्म शरीर को उठाकर दिव्य-देहधारी महात्माओं के सान्निध्य में ले जाया जाता था। ये महात्मा लोग कृष्ण को बड़े स्नेह के साथ उपदेश दिया करते, तथा कृष्ण भी उनके साथ एक आज्ञाकारी शिष्य सा व्यवहार करता। उस समय के कृष्णमूर्ति के पत्राचार में उनके जीवन के इस अध्याय का काफी दिलचस्प वर्णन मिलता है। पर, उनके बाद के जीवन में जब कभी इस मामले को छेड़ा गया, तो कृष्णमूर्ति का जवाब कुछ संदिग्ध सा रहा है। मानो इस मामले में उन्हें खास दिलचस्पी न हो, या फिर उन सारी रहस्यमय बातों की उनके लिए कोई अहमियत ही न हो।

ऐसा लगता है कि एक ओर तो कृष्णमूर्ति को थिआसफी की रहस्यमय आस्थाओं के ढांचे में ढाल कर उसे अपना मनचाहा मसीहा बनाने का भरसक प्रयास जारी था, तो दूसरी ओर बिना किसी प्रतिरोध के ही कृष्णमूर्ति की परिशुद्ध चेतना उस सारे प्रयास से बेअसर बनी रही। कृष्णमूर्ति की चेतना उस पर किए जाने वाले सारे संस्कारों से ऐसे अछूती रह जाती जैसे कमलदल पानी की बूंदों से अछूता रह जाता है।

थिआसफिकल सोसाइटी के ही अंतर्गत 'ऑर्डर ऑफ द स्टार ऑफ द ईस्ट' नाम का एक विशेष संगठन विश्व गुरु के आगमन की तैयारी के लिए बनाया गया और कृष्णमूर्ति उस संगठन के अध्यक्ष बनाए गए। इस संगठन के सदस्यों की गिनती हजारों में होती थी, तथा वे सारे कृष्णमूर्ति के प्रति बड़ा पूज्यभाव रखते थे।

संगठन को भंग किया

एक दिन (3 अगस्त, 1828 को), एनी बेसेंट तथा 'ऑर्डर ऑफ द स्टार' के तीन हजार सदस्यों के सामने कृष्णमूर्ति ने सबको हैरान करने वाला ऐलान किया कि उन्होंने 'ऑर्डर ऑफ द स्टार' को बरखास्त करने की ठान ली है। इस मौके पर कृष्णमूर्ति ने जो भाषण दिया है, उसमें उनकी सारी क्रांतिकारी देशना बीज-रूप में समाई हुई है। **इस ऐतिहासिक भाषण में कृष्णमूर्ति कहते हैं-** 'मेरा प्रतिपादन है कि सत्य एक पथहीन भूमि है, और किसी भी पथ से आप उस तक नहीं पहुंच सकते, किसी भी धर्म से नहीं,

किसी भी पंथ से नहीं। यही मेरा दृष्टिकोण है, और मैं उसके प्रति पूर्णतया तथा निरपेक्षतया निष्ठावान हूं। सत्य, सीमा के परे, प्रतिबद्धता के परे, किसी भी पथ की पहुंच के परे होने के कारण उसे संगठित नहीं किया जा सकता, और किसी भी विशेष पथ पर चलने के लिए लोगों का पथ-प्रदर्शन करने के उद्देश्य से, या उस पथ पर चलने के लिए बाध्य करने के उद्देश्य से, ऐसा कोई संगठन बनाना भी नहीं चाहिए। यदि एक बार यह बात समझ लें, तो फिर आपको पता चलेगा कि किसी भी विश्वास को संगठित करना कितना कठिन है। विश्वास एक बिल्कुल व्यक्तिगत बात है, और आप न तो उसे संगठित कर सकते हैं और न ही आप को उसे संगठित करना चाहिए। यदि आप ऐसा करेंगे, तो वह मृतवत हो जाएगा, जड़ हो जाएगा, वह एक संप्रदाय, एक पंथ, एक धर्म बन जाएगा, और फिर वह दूसरों पर थोपा जाएगा। जो लोग दुर्बल हैं, जिनका वैराग्य क्षणिक है, उनके लिए सत्य को संकुचित कर उसका एक खिलौना बना दिया जाता है। सत्य को नीचे नहीं उतारा जा सकता, बल्कि व्यक्ति को उस सत्य की ऊंचाई तक पहुंचने का प्रयास करना होगा। आप पर्वत-शिखर को घाटी में नहीं ला सकेंगे। आप अगर पर्वत-शिखर को पाना चाहते हैं, तो आप को घाटी में से गुजरना होगा, चट्टानों को लांघना होगा- खतरनाक कंगारों से जरा भी न डरते हुए। आपको ही सत्य की ओर ऊपर चढ़ना होगा, सत्य को आप के लिए नीचे नहीं उतारा जा सकता, संगठित नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक ढंग के किसी भी संगठन के साथ मैं कुछ भी सरोकार नहीं रखना चाहता, इस बात को आप ठीक-ठीक समझ लें। और फिर, मैं प्रतिपादन करता हूं कि कोई भी संगठन मनुष्य को आध्यात्मिकता की ओर नहीं ले जा सकता। इस उद्देश्य से यदि कोई संगठन बनाया जाता है, तो वह एक बैसाखी, एक दुर्बलता एक बंधन भर बन जाता है, और वह अवश्य ही व्यक्ति को पंगु बनाकर आगे बढ़ने से रोकता है, उस शुद्ध अप्रतिबद्ध सत्य की स्वयं खोज करने में निहित अपनी असाधारणता प्रतिष्ठित करने से रोकता है। और एक कारण यह है कि इस आडंर का प्रमुख होने के नाते, मैंने इसे विसर्जित करने का निर्णय लिया है। किसी भी अन्य व्यक्ति ने मुझे इस निर्णय के लिए बाध्य नहीं किया है।

सिर्फ एक उद्देश्य मानव की मुक्ति

'यह कोई महान कृत्य नहीं है, क्योंकि मुझे शिष्यों की जरूरत नहीं है, और यह सचमुच मेरा अभिप्राय है। जैसे ही आप किसी और व्यक्ति का अनुगमन करने लगते हैं, आप सत्य का अनुगमन करना छोड़ देते हैं। आप मेरी कही बात पर ध्यान देते हैं या नहीं इससे मेरा कोई सरोकार नहीं है। इस दुनिया में मैं एक विशिष्ट कार्य करना

चाहता हूं, और वह मैं अविचलित एकाग्रता के साथ करने वाला हूं। मेरा सरोकार सिर्फ एक ही होगा: 'मानव की मुक्ति।' मैं उसे सारे पिंजरों से, सारे भयों से मुक्त रहना चाहता हूं, धर्मों को, नए पंथों को, नए सिद्धांतों को, नये दर्शनों को, स्थापित करना नहीं चाहता।...

'जैसा कि मैंने कहा है, मेरा उद्देश्य बस एक ही है: 'मानव को मुक्त करना', उसे मुक्ति के लिए प्रेरित करना, सारी सीमाओं से मुक्त करना, क्योंकि ऐसी मुक्ति ही उसे अविनाशी सुख और निरुपाधिक साक्षात्कार प्रदान करेगी।

'चूंकि मैं मुक्त हूं, अप्रतिबद्ध हूं, समग्र हूं सत्य का एक अंश नहीं, सापेक्ष सत्य नहीं, बल्कि वह समग्र सनातन सत्य हूं- मैं चाहता हूं कि जो लोग मुझे समझना चाहते हैं, वे स्वयं मुक्त हो जाएं, मेरा अनुमान न करें, मुझे लेकर एक पिंजरा न बना लें जो एक धर्म बन जाए, एक पंथ बन जाए। बल्कि उन सबको तमाम भयों से मुक्त हो जाना चाहिए- धर्म के भय से, मोक्ष के भय से, आध्यात्मिकता के भय से, प्रेम के भय से, मृत्यु के भय से, स्वयं जीवन के भय से भी। जैसे कि कोई चित्रकार चित्र बनाता है, इसलिए कि उसे उस चित्र को बनाने में आनंद आता है, क्योंकि वह उसका आत्माविष्कार होता है, उसकी महिमा का, उसकी स्वस्थता का आविष्कार, उसी तरह मैं यह कह रहा हूं, इसलिए नहीं कि मैं किसी से कुछ चाहता हूं।'

आप अधिकारिता के आदी हो गए हैं

आप अधिकारिता के आदी हो गए हैं, जो अधिकारिता का वातावरण आपको आध्यात्मिकता की ओर ले जाएगा ऐसा आप समझते हैं, उस वातावरण के आप आदी हो गए हैं। आप सोचते हैं तथा उम्मीद करते हैं कि कोई दूसरा व्यक्ति किन्हीं असाधारण शक्तियों के माध्यम से- किसी चमत्कार से- आपको इस आनंद-स्वरूप सनातन मुक्ति के प्रदेश में ले जाएगा। आपका जीवन संबंधी सारा दृष्टिकोण उस अधिकारिता की नींव पर ही खड़ा है।

'और फिर, आप की धारणा है कि सिर्फ कुछ विशिष्ट लोगों के पास ही सुख-साम्राज्य की कुंजी होती है। वह किसी के भी पास नहीं होती। और उस कुंजी को पकड़कर रखने का अधिकार किसी को भी नहीं है। वह कुंजी है आपकी अपनी भीतरी सत्ता और उसके विकास में, शुचिता में, तथा निर्मलता में ही उस सनातन सत्ता का साम्राज्य समाया हुआ है।

नवयुग-प्रवर्तक विश्व शास्ता बने

'ऑर्डर ऑफ द स्टार' को विसर्जित कर देने के बाद तत्काल सारे विश्वस्त-

संघों तथा निधियों को हिसाब-किताब कर, सारी संपत्ति मूल दाताओं को लौटा दी गई। और अब कृष्णमूर्ति एक ऐसे शास्ता के रूप में पहचाने जाने लगे जो सारे धार्मिक विश्वासों के खिलाफ हैं। इधर थिआसफिकल सोसाइटी के आस्थावान अनुयायियों की उम्मीदें तहस नहस हो गयीं, और सोसाइटी के कुछ दिग्गजों ने यह प्रतिपादन करना शुरू कर दिया कि विश्व-शास्ता के अवतरण के मामले में बिल्कुल गड़बड़ हो गयी है।

लेकिन, इस मामले की रहस्यमयता को दरकिनार कर, हकीकत पर ही अगर गौर किया जाए, तो हम ऐसा कहने के लिए विवश होते हैं कि मादाम ब्लावट्स्की के द्वारा विश्व-शास्ता के अवतरण के बारे में की गयी भविष्यवाणी सही निकली, मिस्टर लेडबीटर की अतींद्रिय दृष्टि को हुआ, कृष्णमूर्ति की असाधारणता का दर्शन सही निकला, कृष्णमूर्ति वास्तव में नवयुग-प्रवर्तक विश्व-शास्ता बने, लेकिन परंपरा के ढांचे से मुक्त होकर, अपने अनूठे क्रांतिकारी ढंग से।

आत्म-कल्याण तथा विश्व-कल्याण की अहेतुकी कामना से प्रेरित होकर, भगवान बुद्ध की तरह, अपने अभिभावकों का परित्याग कर, वे शुद्ध सत्य के रास्ते पर चल पड़े। और फिर सत्य की चोटी पर अडिग रहे, तथाकथित दुर्बलों के प्रति करुणा का बहाना बना कर उन्होंने कभी सच्चाई के साथ झूठ का समझौता नहीं होने दिया। भगवान बुद्ध की तरह, कृष्णमूर्ति जीवन भर, अपने आखिरी दम तक मनुष्य की निरपवाद मुक्ति के उद्देश्य से मनुष्य-जाति को संबोधित करते रहे। देश-विदेश की अथक यात्रा करते हुए उन्होंने अनगिनत सत्याकांक्षी मुमुक्षुओं के साथ वार्तालाप किया। कई गणमान्य विद्वानों, दार्शनिकों, साहित्यकारों, कलाकारों, वैज्ञानिकों, तथा राजनेताओं के साथ संवाद किया। उनके वार्तालापों में से काफी वार्तालाप किताबों के रूप में आज उपलब्ध हैं। उनका काफी साहित्य अभी अप्रकाशित है। अनेकानेक वार्ताओं और संवादों के अलावा उन्होंने कुछ 'उत्स्फूर्त' लेखन भी किया है, तथा उसका काफी हिस्सा आज किताबों के रूप में उपलब्ध है। 'सारा' मूल कृष्णमूर्ति साहित्य 'अंग्रेजी' में है, लेकिन उसका काफी हिस्सा दुनिया की अन्य भाषाओं में अनुवादित किया गया है और किया जा रहा है। तथा उसका काफी हिस्सा आज किताबों के रूप में उपलब्ध है। प्रायः सभी मुख्य भारतीय भाषाओं में अनुवादित कृष्णमूर्ति साहित्य प्रकाशित किया जा रहा है। अंग्रेजी में, तथा कतिपय भारतीय भाषाओं में कुछ पत्रिकाओं का प्रकाशन भी फाउंडेशन के विभिन्न केंद्रों द्वारा किया जाता है।

अंतिम इच्छाएं

कृष्णमूर्ति कहा करते थे कि उनका शरीर केवल धर्म-देशना की अभिव्यक्ति के लिए ही पैदा हुआ है और जैसे ही उसका बोलना बंद हो जाएगा, वैसे ही वह मर

जाएगा। अपना यह सुनिश्चित जीवित-कार्य पूरा कर, उन्होंने कृतार्थता के साथ कैलिफोर्निया के ओहाइ में 1986 की फरवरी की 17 तारीख को रात के बारह बजकर दस मिनट पर, देह त्याग किया।

अपनी मृत्यु से पहले कृष्णमूर्ति ने कहा था कि मृत्यु के बाद शरीर का कोई महत्त्व नहीं होता, उसे बस एक लकड़ी के कुंदे की तरह जल कर राख होना होता है। वे कहते थे, 'मैं एक सीधा सादा आदमी हूं। वे चाहते थे कि उनकी अंतिम यात्रा भी वैसी ही सीधी-सादी हो, उनकी मृत्यु के पश्चात् न किसी प्रकार के क्रिया-कर्म किये जाएं, न कोई प्रार्थना हो, न कोई आडंबर, और न ही कोई औपचारिक अंत्य-यात्रा। वे चाहते थे कि उनकी अस्थि-रक्षा पर कोई भी स्मारक न बनाया जाए, और किसी भी हालत में धर्म-शास्ता को देवता न बनाया जाए, क्योंकि शास्ता की, शिक्षक की, कोई अहमियत नहीं, अहमियत है सिर्फ शिक्षा की, और इस देशना को- इस शिक्षा को-विकृत तथा भ्रष्ट होने से बचाना होगा। इस शिक्षा में धर्मगुरु-परंपरा का तथा अधिकारिता का कोई स्थान नहीं, वहां पर न कोई बारिस है, और न ही कोई प्रतिनिधि जो इन शिक्षाओं को, अब या आने वाले किसी समय, मेरे नाम से आगे चलाए।' तथापि, अपने सहयोगियों से उन्होंने यह आग्रह अवश्य किया कि उनका अपना नाम धारण करने वाली भारत, यूनाइटेड स्टेट्स, तथा इंगलैंड में स्थापित 'कृष्णमूर्ति फाउंडेशंस' और उनके अपने मार्गदर्शन के अधीन स्थापित 'स्कूल्स' जारी करें।

आज, कृष्णमूर्ति की इच्छानुसार, यूनाइटेड स्टेट्स में 'कृष्णमर्ति फाउंडेशन ऑफ अमेरिका, इंगलैंड में 'कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ट्रस्ट, इंगलैंड', तथा भारत में 'कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया' ये तीनों फाउंडेशन तथा अमेरिका में स्थापित 'ओक ग्रोव स्कूल', इंगलैंड में स्थापित ब्रॉकवुड पार्क स्कूल, तथा भारत में, आंध्र प्रदेश में स्थापित ऋषि वैली स्कूल, उत्तर प्रदेश में राजघाट बेसेंट स्कूल, कर्नाटक में वैली स्कूल, तमिलनाडु में 'द स्कूल', तथा महाराष्ट्र में सह्याद्रि स्कूल कार्यरत हैं।

कृष्णमूर्ति चाहते थे कि शासन के आलोक में सत्य का अन्वेषण करने के इच्छुक मुमुक्षुओं के लिए अध्ययन-केंद्र बनाए जाएं, ताकि वहां पर ऐसे लोग अपने बोझिल आम जीवन से कुछ समय के लिए अवकाश पाकर निर्विघ्न रूप से आत्मान्वेषण कर सकें। भारत में, कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया के अधीन ऐसे अध्ययन-केंद्र ऋषि वैली, चेन्नई, वाराणसी, बैंगलोर, पुणे, उत्तर काशी, आदि स्थानों पर हैं। इनके अलावा, कहीं कहीं, इसी उद्देश्य से चलाए जाने वाले स्वतंत्र केंद्र भी विद्यमान हैं।

शिक्षा जगत को कृष्णमूर्ति का योगदान

मानव के समग्र प्रस्फुटन और सम्यक शिक्षा से कृष्णमूर्ति का गहरा सरोकार था। मानवीय चेतना में एक गहरे रूपांतरण की संभावना का द्वार सही शिक्षा ही खोल सकती है, एक ऐसी जीवंत शिक्षा जहां विद्यार्थी, शिक्षक एवं अभिभावक साथ मिलकर सीख रहे हों, जीवन और उसके अनंत संबंधों की बारीकियों को समझने की कोशिश कर रहे हों, जिसकी बुनियाद में बस गहरी मैत्री एवं प्रेम हो, सीखने की आकुलता हो। एक ऐसी शिक्षा जो भय, तुलना, स्पर्धा एवं असंवेदनशीलता के दमघोंटू वातावरण में केवल यांत्रिक तौर पर सूचनाओं का संग्रह एवं आदान-प्रदान बनकर न रह गई हो, एक ऐसी शिक्षा जो युवा मस्तिष्क को निर्भयता से हर चीज पर प्रश्न करना, स्वतंत्रता के साथ-साथ उत्तरदायित्व की पूर्ण भावना को विकसित करना सिखाती हो, जो जीवन एवं प्रकृति से जुड़ना सिखाती हो, अस्तित्व की पवित्रता का सम्मान करना सिखाती हो।

शिक्षक का कर्त्तव्य

'स्कूलों को पत्र' में वे शिक्षक के अत्यंत महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व की चर्चा करते हुए लिखते हैं।

'क्या शिक्षक का कर्तव्य सिर्फ इतना है कि वह कुछ जानकारियों, सूचनाओं, विचारों, सिद्धांतों को आगे बढ़ाता रहे...? अगर यही है तो वह एक जीते-जागते कंप्यूटर के सिवा कुछ नहीं है। लेकिन नहीं, निश्चित तौर पर शिक्षक की कहीं बड़ी जिम्मेदारी है। उसे अवश्य ही इन सारी चीजों से सरोकार होना चाहिए, जैसे मनुष्य के व्यवहार से, उसके कार्य करने की जटिलताओं से, और एक ऐसे जीवन से भी उसे सरोकार रखना होगा। और बच्चों का भविष्य क्या है? मानव का भविष्य क्या है? हमारी चेतना का भविष्य क्या है जो इतनी भ्रांति, अशांति, अस्तव्यस्तता और द्वंद्व में है? क्या हमें हमेशा संघर्ष, दुख और पीड़ा में ही जीना होगा? अगर शिक्षक बच्चों के साथ इन सारे बिंदुओं पर संवाद की स्थिति में नहीं है तो वह एक जीती-जागती मशीन भर है जो और मशीनों को चला रही है।... शिक्षण विश्व का सबसे महान पेशा है हालांकि सबसे कम सम्मानित। क्योंकि शिक्षक अगर बहुत गहराई और गंभीरता से बच्चों से जुड़ा है तो वह मानव मस्तिष्क को यानी उनके एवं अपने मस्तिष्क को, संस्कारबद्धता से मुक्त करने का कार्य करेगा।...'

शिक्षा केंद्रों की स्थापना

जीवन के इन गहनतम सरोकारों को ध्यान में रखते हुए कृष्णमूर्ति की प्रेरणा से भारत, इंगलैंड एवं अमेरिका में कई शिक्षा केंद्रों की स्थापना हुई। कृष्णमूर्ति को प्रकृति से अगाध प्रेम था तथा उनका मानना था कि अगर हमारा प्रकृति से संबंध नहीं है तो फिर हमारा मानव और मानवीयता से भला कैसे रिश्ता हो सकता है। इसीलिए उन्होंने फिर शिक्षा एवं अध्ययन केंद्रों के लिए ऐसी जगहें चुनीं जो प्रकृति से भरपूर थीं, वृक्षों एवं लताओं से परिपूर्ण थी। भारत में बीसवीं सदी के दूसरे दशक में उन्होंने आंध्र प्रदेश में ऋषि कोंडा की पहाड़ियों के बीच अपने प्रथम शिक्षा केंद्र के लिए एक अद्भुत स्थान ढूंढ निकाला, जिसका नाम उन्होंने रखा मदनापल्ली अर्थात् ऋषियों की घाटी जो शायद विश्व की सबसे प्राचीन पहाड़ियों से घिरी है। कृष्णमूर्ति का जन्म स्थान मदनापल्ली भी यहां से कुछ ही दूरी पर है। आज यह विद्यालय भारत के सर्वश्रेष्ठ आवासीय विद्यालयों में गिना जाता है।

'ऋषि वैली" की स्थापना के एक-दो वर्ष बाद ही कृष्णमूर्ति की इच्छानुसार वाराणसी में गंगा नदी के किनारे एक अन्य शिक्षा केंद्र की बुनियाद डालने के लिए लगभग तीन सौ एकड़ भूमि राजघाट फोर्ट एवं सराय मोहाना ग्राम में खरीदी गई। प्रकृति से संपन्न राजघाट का यह परिसर प्राचीन काशी क्षेत्र में आता है। आरंभ में 'फाउंडेशन फॉर न्यू एजुकेशन' के अंतर्गत इन शिक्षा केंद्रों की शुरुआत हुई। 'राजघाट बेसेंट स्कूल' के नाम से आज भी यहां सहशिक्षा पर आधारित एक आवासीय विद्यालय चल रहा है जहां कक्षा तीन से बारहवीं तक के करीब साढ़े तीन सौ विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं।

विदेशों में शिक्षा

सन् साठ के दशक में इंगलैंड अमेरिका एवं भारत में कृष्णमूर्ति फाउंडेशन की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य था कृष्णमूर्ति द्वारा स्थापना शिक्षा केंद्रों का संचालन एवं उनकी पुस्तकों का प्रकाशन। कृष्णमूर्ति ने यह बिल्कुल स्पष्ट किया कि फाउंडेशन की भूमिका किसी धार्मिक या आध्यात्मिक प्रामाण्य, सत्ता या ढांचे के रूप में कतई नहीं होगी और न ही किसी भी अर्थ में उनका कोई 'उत्तराधिकारी' जैसा कोई होगा।

सन् 1954 में मुंबई में निर्धन बच्चों के लिए 'बाल आनंद' के नाम से दिवसीय विद्यालय की शुरुआत हुई। सन् 1968 में इंगलैंड में हैंपशायर के एक बहुत ही खूबसूरत गांव में 36 एकड़ में 'ब्रॉकवुड पार्क स्कूल' की बुनियाद पड़ी। यह एक अंतर्राष्ट्रीय

आवासीय स्कूल है जहां अलग-अलग राष्ट्रीयताओं के विद्यार्थी, जिनकी आयु 15 से 19 वर्ष के बीच है, एक सृजनशील समुदाय के रूप में रहते और सीखते हैं।

सन सत्तर के दशक में कृष्णमूर्ति की प्रेरणा से भारत एवं अमेरिका में कुछ और शिक्षा केंद्रों की स्थापना हुई। बैंगलोर में मुख्य शहर से दस मील की दूरी पर 'हरिद्रनम्' में सौ एकड़ की जमीन पर 'वैली स्कूल' की शुरुआत हुई। यह दिवसीय एवं आवासीय विद्यालय दोनों है। मद्रास में 'द स्कूल' के नाम से दिवसीय विद्यालय की नींव रखी गई। कैलीफोर्निया की ओहाई घाटी में, जहां कृष्णमूर्ति सन् 1922 से जाते रहे थे, वहां 'ओक ग्रोव स्कूल' की बुनियाद पड़ी।

सन् 1986 में कैलीफोर्निया में कृष्णमूर्ति के देहावसान के बाद भी 'कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया' द्वारा एक और आवासीय विद्यालय की स्थापना हुई। यह विद्यालय पुणे से 70 किलोमीटर दूर सह्याद्री पर्वत श्रृंखला के मध्य तिबई हिल्स की खूबसूरत पहाड़ियों पर सह्याद्री स्कूल के नाम से सन् 1994 में आरंभ हुआ।

शिक्षा से संबंधित कुछ पुस्तकें हिंदी में भी उपलब्ध हैं जो मूलरूप से कृष्णमूर्ति द्वारा शिक्षा केंद्रों में दी गई वार्ताओं एवं छात्रों और शिक्षकों के साथ हुई संवादों पर आधारित हैं: शिक्षा संवाद, शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य, संस्कृति का प्रश्न, स्कूलों के नाम पत्र, शिक्षा क्या है, सीखने की कला इत्यादि।

शिक्षा केंद्रों पर कृष्णमूर्ति के विचार

अध्ययन केंद्र (जीवन के मूलभूत प्रश्नों को लेकर स्वाध्याय एवं संवाद के लिए)

कृष्णमूर्ति की ऐसी इच्छा थी कि इन शिक्षा केंद्रों के साथ-साथ ऐसे अध्ययन केंद्र एवं रिट्रीट बनाए जाएं जहां के एकांत वातावरण में जिज्ञासुजन उनकी शिक्षाओं के अध्ययन-मनन एवं आत्म-अन्वेषण के लिए आ सकें। ये स्थान सीखने एवं सत्यान्वेषण की ऊर्जा से अनुप्राणित हों तथा सच्चे अर्थों में सृजनशीलता एवं धार्मिकता से युक्त हों।

उनकी दृष्टि में इन स्थानों की अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

'हजार वर्षों तक इसे बने रहना होगा, अदूषित, एक नदी की तरह जिसमें अपने आपको स्वच्छ-निर्मल कर लेने की क्षमता हो, इसका आशय है कि वहां रहने वालों की किसी तरह की कोई सत्ता, कोई ऑथोरिटी न हो। शिक्षाओं में अपने आप में ही सत्य का प्रामाण्य है।...

यह अच्छाई के खिलने का स्थल है। यह ऐसे सहसंवाद और सहयोग का स्थल है जो कार्य, आदर्श या किसी व्यक्तिगत सत्ता पर आधारित नहीं है, सहयोग में यह निहित है कि वह किसी विषय विशेष, सिद्धांत, विश्वास वगैरह के इर्द-गिर्द न हो।

जब हम इस जगह आते हैं तो हममें से हर एक अपने काम में- चाहे कोई बगीचे में काम कर रहा हो या कुछ कर रहा हो- कुछ जान-समझ लेता है, काम करते-करते ही, और फिर वह इसके बारे में बात करता है, अन्य लोगों से संवाद करता है ताकि वह जो कह रहा है उस पर सवाल उठाया जाए, संदेह किया जाय, और इस तरह खोजबीन में जो सत्य उसने पाया है उसमें कितना दम है यह पता चल सके। तो यह एक निरंतर संवाद है, कोई एकाकी उपलब्धि, एकाकी संबोधि या समझ नहीं है। हममें से कोई भी यदि कुछ ऐसा पता लगा पाता है जो आधारभूत है, नवीन है तो यह सिर्फ उसके अपने लिए नहीं है बल्कि उन सब लोगों के लिए है जो यहां हैं। यह जगह किसी व्यक्ति के निजी बुद्धत्व या कलात्मक, धार्मिक या किसी और ढंग से उसकी अपनी संतुष्टि के लिए नहीं है... यहां पर रूढ़िग्रस्त अथवा पारंपरिक गतिविधियों से पूरी तरह से निजात पा लेना जरूरी है, राष्ट्रीयता के हर तरह के एहसास से, वंशजातिगत पूर्वाग्रहों से, धार्मिक विश्वासों व आस्थाओं से पूर्णतया, समग्र रूप से मुक्ति आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति ईमानदारी और प्रामाणिकता से ऐसा कर पाने में समर्थ नहीं है, तो बेहतर होगा कि वह इस जगह से दूर ही रहे। इस अंतर्दृष्टि को पा लेना मूलभूत रूप से अनिवार्य है कि ज्ञान मनुष्य का शत्रु है। यह जगह भावुकता के लिए नहीं है, रूमानी भावनाओं में मग्न रहने वाले लोगों के लिए नहीं है।

कृष्णमूर्ति के इस गंभीर आशय के साथ सन् अस्सी एवं नब्बे के दशकों में 'ऋषि वैली', आंध्र प्रदेश में 'राजघाट', वाराणसी में 'बसंत विहार', चेन्नई में जो कि भारतीय फाउंडेशन का मुख्यालय भी है, 'वैली स्कूल', बैंगलोर में 'सहयाद्री स्कूल', पुणे में तथा उत्तराकाशी में भागीरथी के तट पर अध्ययन केंद्रों एवं रिट्रीट की कल्पना साकार हुई। इसके अतिरिक्त कैलीफोर्निया की ओहाई वैली में तथा इंगलैंड के ब्रॉकवुड पार्क केंद्र में इस प्रकार के स्टडी सेंटर एवं रिट्रीट अस्तित्व में आए।

इन जगहों के प्रकृति संपन्न एवं खामोशी से भरपूर वातावरण में कोई भी सत्यान्वेषी जाकर कुछ दिनों के लिए ठहर सकता है और इन शिक्षाओं का, स्वयं का, अपने आप से, बिना किसी पथ प्रदर्शक की मदद से, अध्ययन कर सकता है।

■

3

ओशो

ओशो किसी शरीर का नाम नहीं एक अवस्था है, एक स्थिति है। बुद्धत्व की ऐसी स्थिति, ऐसी घटना जिसका न तो कोई समय से संबंध है न ही जन्म-मृत्यु से कोई नाता। जो थी, जो है और जो सदा रहेगी। चेतना की ऐसी ही दशा का नाम है ओशो, जो न कभी जन्मती है और न कभी मरती है। शरीर में रहती जरूर है परंतु शरीर के साथ विदा नहीं होती। बस सदा विद्यमान रहती है और विचरण करती है इस धरा पर हर कण में, हर क्षण में। जिसका अनुभव ही उसका एकमात्र प्रमाण है।

किसी दूसरे से नहीं स्वयं से मुलाकात का नाम है ओशो। खुद के भीतर झांकने का आईना है ओशो। यदि आप ओशो को पढ़ना आरंभ करेंगे तो हो सकता है कि आप वहां ओशो को ना पाएं। क्योंकि हम पढ़ते जरूर ओशो को हैं परंतु निकट हम अपने हो जाते हैं। हमारी स्वयं से पहचान शुरू हो जाती। ओशो को पढ़ने से हमें सिर्फ अपने उत्तर नहीं मिलते, बल्कि सच्चे एवं वास्तविक प्रश्न भी मिल जाते हैं। ओशो हमें हमारे नजदीक कर देते हैं। बोझपूर्ण जीवन को बोधपूर्ण बना देते हैं। ओशो को पढ़ना यानी स्वयं को पढ़ना है और ओशो को सुनना यानी स्वयं से बात करना है। यही ओशो का सौंदर्य है।

कितने ही सत्य, संत, मनोवैज्ञानिक दार्शनिक, देवता आदि ऐसे हैं जिन्हें लोगों ने सुना था परंतु समझा ओशो के माध्यम से है। ओशो ने इस जगत् को सही मायनों में पुनर्जीवित किया है। ओशो रीढ़ हैं ध्यान और अध्यात्म की। ओशो जननी हैं नव-संन्यास की। ओशो ने धर्म को नए पंख दिए हैं। मानव को उसकी वास्तविक खिलावट दी है। ओशो ने सदियों से रूढ़ियों में लिपटी धारणाओं एवं मान्यताओं को सुगंध दी है। ध्यान और प्रेम को सही अर्थ दिये हैं। ओशो ने भीतर और बाहर दोनों में तादात्म्य तथा बाजार और मंदिर में तारतम्य स्थापित किया है।

ओशो ने मनुष्य को उस गहराई का पता दिया है जहां उतर कर मनुष्य ऊपर उठ जाता है और वह ऊंचाइयां दी हैं जहां पहुंचकर मनुष्य भीतर अंतस में समा जाता है।

ओशो ने जन्म को जीवन बनाने में और जीवन को जीवंत बनाने में जोर दिया। मनुष्य के पास जो है उसे वह सौंपने में, उसकी निजता की सुध दिलाने में, भागने के बजाए जागने में और जो जैसा है उसको वैसा ही स्वीकारने पर बल दिया। ओशो ने किसी चांद-तारों की या भूत-भविष्य की बात नहीं की। ओशो ने जो सदा है, और जो सदा रहेगा उसको न देख पाने के कारण को साफ करने की कोशिश की। ओशो ने मनुष्य के आंख-कान फोड़कर उसे हृदय से सुनना सिखाया। ओशो अंधे की आंख हैं तो गूंगे का स्वर भी। ओशो सूनेपन का संगीत हैं तो स्वर के बीच का मौन भी। ओशो द्वार हैं परमात्मा का, ओशो अवसर हैं रूपांतरण का। ओशो हैं तो उम्मीद है प्रकाश की। ओशो हैं तो भरोसा है जागरण का।

ओशो ने इतना लिख छोड़ा है कि कहीं से भी, किसी का, कुछ भी पढ़ो तो लगता है यह तो ओशो पहले ही कह चुके हैं। ओशो के शब्दों की पहुंच वहां तक है, जहां आदमी की खामोशी तक नहीं पहुंच सकती। और मौन में इतनी ऊर्जा है कि आदमी निःशब्द रह जाए। हर पढ़ने वाले को ऐसा लगता है जैसे ओशो ने उसके लिए ही लिखा हो। ओशो का शब्द-शब्द काव्य है, पंक्ति-पंक्ति ग्रंथ है और पृष्ठ-पृष्ठ तीर्थ है।

बुद्धत्व की प्रवाहमान धारा में ओशो एक नया प्रारंभ हैं, वे अतीत की किसी भी धार्मिक परंपरा या शृंखला की कड़ी नहीं हैं। ओशो से एक नए युग का शुभारंभ होता है और उनके साथ ही समय दो सुस्पष्ट खंडों में विभाजित होता है, ओशो-पूर्व तथा ओशो-पश्चात्।

ओशो के आगमन से एक नए मनुष्य का, एक नए जगत् का सूत्रपात हुआ है, जिसकी आधारशिला अतीत के किसी धर्म में नहीं है, किसी दार्शनिक विचार-पद्धति में नहीं है। ओशो सद्यःस्नात धार्मिकता के प्रथम पुरुष हैं, सर्वथा अनूठे संबुद्ध रहस्यदर्शी हैं।

मध्यप्रदेश के कुचवाड़ा गांव में 11 दिसंबर, 1931 को जन्मे ओशो का बचपन का नाम 'रजनीश चंद्रमोहन' था। उन्होंने जीवन के प्रारंभिक काल में ही एक निर्भीक स्वतंत्र आत्मा का परिचय दिया। खतरों से खेलना उन्हें प्रीतिकर था। 100 फीट ऊंचे पुल से कूद कर बरसात में उफनती नदी को तैर कर पार करना उनके लिए साधारण खेल था। युवा ओशो ने अपनी अलौकिक बुद्धि तथा दृढ़ता से पंडित-पुरोहित, मुल्ला-पादरियों, संत-महात्माओं- जो स्वानुभव के बिना ही भीड़ के अगुवा बने बैठे थे कि मूढ़ताओं और पाखंडों का पर्दाफाश किया।

21 मार्च, 1953 को इक्कीस वर्ष की आयु में ओशो संबोधि (परम जागरण) को उपलब्ध हुए। संबोधि के संबंध में वे कहते हैं, 'अब मैं किसी भी प्रकार की खोज में नहीं हूं। अस्तित्व ने अपने समस्त द्वार मेरे लिए खोल दिए हैं।'

उन दिनों वे जबलपुर के एक कॉलेज में दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी थे। संबोधि घटित होने के पश्चात् भी उन्होंने अपनी शिक्षा जारी रखी और सन् 1957 में सागर विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में प्रथम श्रेणी में प्रथम (गोल्डमेडलिस्ट) रह कर एम.ए. की उपाधि प्राप्त की। इसके पश्चात् वे जबलपुर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक पद पर कार्य करने लगे। विद्यार्थियों के बीच वे 'आचार्य रजनीश' के नाम से अतिशय लोकप्रिय थे। विश्वविद्यालय के अपने नौ सालों के अध्यापन-काल के दौरान वे पूरे भारत में भ्रमण भी करते रहे। प्रायः 6-7 सौ की संख्या में श्रोता उनकी सभाओं में उपस्थित होते। वे आध्यात्मिक जन-जागरण की एक लहर फैला रहे थे। उनकी वाणी में और उनकी उपस्थिति में वह जादू था, वह सुगंध थी जो किसी पार के लोक से आती है।

सन् 1966 में ओशो ने विश्वविद्यालय के प्राध्यापक पद से त्यागपत्र दे दिया ताकि अस्तित्व ने जिस परम भगवत्ता का खजाना उन पर लुटाया है उसे वे पूरी मानवता को बांट सकें और एक नए मनुष्य का जन्म देने की प्रक्रिया में समग्रता से लग सकें। ओशो का यह नया मनुष्य 'जोरबा दि बुद्धा' एक ऐसा मनुष्य है जो जोरबा की भांति भौतिक जीवन का पूरा आनंद मनाना जानता है और जो गौतम बुद्ध की भांति मौन होकर ध्यान में उतरने में भी सक्षम है। ऐसा मनुष्य जो भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों तरह से समृद्ध है। 'जोरबा दि बुद्धा' एक समग्र व अविभाजित मनुष्य है।

सन् 1970 में ओशो मुंबई में रहने के लिए आ गए। अब पश्चिम से सत्य के खोजी भी, जो अकेली भौतिक समृद्धि से ऊब चुके थे और जीवन के किन्हीं और गहरे रहस्यों को जानने और समझने के लिए उत्सुक थे, उन तक पहुंचने लगे। ओशो ने उन्हें देशना दी कि अगला कदम ध्यान है। ध्यान ही जीवन में सार्थकता के फूलों के खिलने में सहयोगी सिद्ध होगा।

इसी वर्ष सितंबर में मनाली (हिमालय) में आयोजित अपने एक शिविर में ओशो ने नव-संन्यास में दीक्षा देना प्रारंभ किया। इसी समय के आस-पास वे 'आचार्य रजनीश' से 'भगवान श्री रजनीश' के रूप में पहचाने जाने लगे।

सन् 1974 में वे अपने बहुत से संन्यासियों के साथ पूना आ गए जहां 'श्री रजनीश आश्रम' की स्थापना हुई। पूना आने के बाद उनके प्रभाव का दायरा विश्वव्यापी होने लगा।

श्री रजनीश आश्रम 'पूना' में प्रतिदिन अपने प्रवचनों में ओशो ने मानव-चेतना के विकास के हर पहलू को उजागर किया। बुद्ध, महावीर, कृष्ण, शिव, शांडिल्य, नारद, जीसस के साथ ही साथ भारतीय अध्यात्म-आकाश के अनेक नक्षत्रों- आदिशंकराचार्य, गोरख, कबीर, नानक, मलूकदास, रैदास, दरियादास, मीरा आदि पर उनके हजारों प्रवचन उपलब्ध हैं। जीवन का ऐसा कोई भी आयाम नहीं है जो उनके प्रवचनों से

14 नवंबर, 1985 को अमरीका छोड़कर ओशो भारत लौट आए। यहां की तत्कालीन सरकार ने भी उन्हें समूचे विश्व से अलग कर देने का पूरा प्रयास किया। तब ओशो नेपाल चले गए। नेपाल में भी उन्हें अधिक समय तक रुकने की अनुमति नहीं दी गई।

फरवरी, 1986 में ओशो विश्व-भ्रमण के लिए निकले जिसकी शुरुआत उन्होंने ग्रीस से की, लेकिन अमरीका के दबाव के अंतर्गत 21 देशों ने या तो उन्हें देश से निष्कासित किया या फिर देश में प्रवेश की अनुमति ही नहीं दी। इन तथाकथित स्वतंत्र व लोकतांत्रिक देशों में ग्रीस, इटली, स्विटजरलैंड, स्वीडन, ग्रेट ब्रिटेन, पश्चिम जर्मनी, हॉलैंड, कनाडा, जमैका और स्पेन प्रमुख थे।

ओशो जुलाई, 1986 में मुंबई और फिर जनवरी 1987 में पूना के अपने आश्रम में लौट आए, जो अब ओशो 'कम्यून इंटरनेशनल' के नाम से जाना जाता है। यहां वे पुनः अपनी क्रांतिकारी शैली में अपने प्रवचनों से पंडित-पुरोहितों और राजनेताओं के पाखंडों व मानवता के प्रति उनके षड्यंत्रों का पर्दाफाश करने लगे।

इसी बीच भारत सहित सारी दुनिया के बुद्धिजीवी वर्ग व समाचार माध्यमों ने ओशो के प्रति गैर- पक्षपातपूर्ण व विधायक चिंतन का रुख अपनाया। छोटे-बड़े सभी प्रकार के समाचार पत्रों व पत्रिकाओं में अक्सर उनके अमृत-प्रवचन अथवा उनके संबंध में लेख व समाचार प्रकाशित होने लगे। देश के अधिकांश प्रतिष्ठित संगीतज्ञ, नर्तक, साहित्यकार, कवि व शायर ओशो कम्यून इंटरनेशनल में अक्सर आने लगे। मनुष्य की चिर-आकांक्षित उटोपिया का सपना साकार देखकर उन्हें अपनी ही आंखों पर विश्वास न होता।

26 दिसंबर, 1988 को ओशो ने अपने नाम के आगे से 'भगवान' संबोधन हटा दिया। 27 फरवरी, 1989 को ओशो कम्यून इंटरनेशनल के बुद्ध सभागार में सांध्य प्रवचन के समय उनके 10,000 शिष्यों व प्रेमियों ने एकमत से अपने प्यारे सद्गुरु को 'ओशो' नाम से पुकारने का निर्णय लिया।

अक्टूबर, 1985 में जेल में अमरीका की रीगन सरकार द्वारा ओशो को 'थैलियम' नामक धीमा असर करने वाला जहर दिए जाने एवं उनके शरीर को प्राण घातक रेडिएशन से गुजारे जाने के कारण उनका शरीर तब से निरंतर अस्वस्थ रहने लगा था और भीतर से क्षीण होता चला गया। इसके बावजूद वे ओशो कम्यून इंटरनेशनल, पूना के गौतम दि बुद्धा ऑडिटोरियम में 10 अप्रैल 1989, तक प्रतिदिन संध्या समय दस हजार शिष्यों, खोजियों और प्रेमियों की सभा में प्रवचन देते रहे और उन्हें ध्यान में डुबाते रहे। इसके बाद के अगले कई महीने उनका शारीरिक कष्ट बढ़ गया।

17 सितंबर, 1989 से पुनः गौतम दि बुद्धा ऑडिटोरियम में हर शाम केवल आधे घंटे के लिए आकर ओशो मौन दर्शन-सत्संग के संगीत और मौन में सबको डुबाते रहे।

इस बैठक को उन्होंने 'ओशो व्हाइट रोब ब्रदरहुड' नाम दिया। ओशो 16 जनवरी, 1990 तक प्रतिदिन संध्या सात बजे 'ओशो व्हाइट रोब ब्रदरहुड' की सभा में आधे घंटे के लिए उपस्थित होते रहे।

17 जनवरी को वे सभा में केवल नमस्कार करके वापस चले गए।

18 जनवरी को 'ओशो व्हाइट रोब ब्रदरहुड' की सांध्य-सभा में उनके निजी चिकित्सक स्वामी प्रेम अमृतो ने सूचना दी कि ओशो के शरीर का दर्द इतना बढ़ गया है कि वे हमारे बीच नहीं आ सकते, लेकिन वे अपने कमरे में ही सात बजे से हमारे साथ ध्यान में बैठेंगे। दूसरे दिन 19 जनवरी, 1990 को सांय पांच बजे ओशो शरीर छोड़ कर महाप्रयाण कर गए। इसकी घोषणा सांध्य-सभा में की गई। ओशो की इच्छा के अनुरूप, उसी सांध्य-सभा में उनका शरीर गौतम दि बुद्धा ऑडिटोरियम में दस मिनट के लिए लाकर रखा गया। दस हजार शिष्यों और प्रेमियों ने उनको आखिरी विदाई का उत्सव संगीत-नृत्य, भावातिरेक और मौन में मनाया। फिर उनका शरीर दाह क्रिया के लिए ले जाया गया।

21 जनवरी, 1990 के पूर्वाह्न में उनके अस्थि-फूल का कलश महोत्सवपूर्वक कम्यून में लाकर च्वांग्त्सू हॉल में निर्मित संगमरमर के समाधि भवन में स्थापित किया गया।

ओशो की समाधि पर स्वर्ण अक्षरों में अंकित है-

OSHO
Never Born
Never Died
Only Visited this
Planet Earth between
Dec. 11, 1931-Jan.19, 1990

ध्यान और सृजन का यह अनूठा नव-संन्यास उपवन, ओशो कम्यून, ओशो की विदेह उपस्थिति में आज पूरी दुनिया के लिए एक ऐसा प्रबल चुंबकीय आकर्षण-केंद्र बना हुआ है यहां निरंतर नए-नए लोग आत्म-रूपांतरण के लिए आ रहे हैं तथा ओशो की सघन-जीवंत उपस्थिति में अवगाहन कर रहे हैं।

ओशो को विस्तारपूर्वक जानने के लिए आप डायमंड पॉकेट बुक्स से प्रकाशित शशिकांत 'सदैव' की पुस्तक 'कौन है ओशो' को पढ़ सकते हैं।

■

उत्तराधिकारी घोषित किया और युवाचार्य (भावी आचार्य) के रूप में प्रतिष्ठित किया। पंद्रह वर्षों तक युवाचार्य पद को श्री महाप्रज्ञ द्वारा सुशोभित रहने का मौका मिला। विक्रम संवत 2050 माघ शुक्ल सप्तमी को राजस्थान प्रांत के चूरू जिले के सुजानगढ़ नगर में आचार्य तुलसी ने युवाचार्य महाप्रज्ञ को स्वयं का आचार्य पद प्रदान करते हुए कहा 'भिक्षु स्वामी व भारमल जी स्वामी साथ-साथ रहे।' जयाचार्य ने मघवा को काम सौंपा। तुम्हें युवाचार्य बनाए पंद्रह वर्ष हो गए पर पूरे कार्य मैं ही कर रहा हूं। तुम कार्यक्षम होते हुए भी दूसरे कामों में लगे रहे। इसलिए जब मैं आचार्य पद का भार तुम्हें सौंप रहा हूं। हस्तांतरित कर रहा हूं। मैं इस दायित्व को तुम्हें सौंपकर अपनी साधना और मानव जाति के लिए व्यापक कार्यक्रम में लग रहा हूं।

नव-मनोनीत आचार्य महाप्रज्ञ ने अपने गुरु को तत्काल गणाधिपति संज्ञा से संज्ञापित किया। आचार्य पद का अभिषेक विक्रम संवत 2051 माघ शुक्ल षष्ठी को दिल्ली में स्वयं गुरुदेव तुलसी द्वारा किया गया। गुरुदेव तुलसी के निर्देशानुसार श्री महाप्रज्ञ ने प्रेक्षाध्यान पद्धति का अनुसंधान किया। शिक्षा जगत के लिए जीवन विज्ञान का प्रणयन किया। अहिंसा और शांति में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों और संस्थाओं को साथ जोड़कर अहिंसा के कार्यक्रम को प्रभावी बनाने के लिए श्री महाप्रज्ञ ने 'अहिंसा समवाय' का प्रारंभ किया।

5 दिसंबर, 2001 सुजानगढ़ नगर से 'अहिंसा यात्रा' का शुभारंभ किया। उसके दो उद्देश्य निर्धारित किए गए- 1. अहिंसक चेतना का जागरण, 2. नैतिक मूल्यों का विकास। प्रारंभ में यात्रा की अवधि तीन वर्ष की तय हुई। फिर दो वर्ष और बढ़ाए गए। पुनः जनता के आग्रह पर तीन वर्ष और अहिंसा-यात्रा की घोषणा की गई।

श्री महाप्रज्ञ ने अध्ययन के साथ साहित्य सृजन का कार्य भी प्रारंभ कर दिया। पूज्य गुरुदेव तुलसी के वाचना प्रमुखत्व में जैन आगमों के संपादन का कार्य शुरू किया। यह कार्य कुछ अंशों में संपन्न हो गया और कुछ अंशों में अभी अवशेष है। आगमन संपादन का कार्य श्री महाप्रज्ञ के दिशा-निर्देशन में प्रवर्धमान है। यह समय साध्य और श्रमसाध्य कार्य है। मूलपाठ, संपादन, हिन्दी अनुवाद विस्तृत व्याख्या आदि अनेक विद्याओं में यह कार्य संपन्न किया जा रहा है। आगम संपादन के कार्य के अंतर्गत आचारांग भाष्य का प्रणयन कर श्री महाप्रज्ञ ने आगम भाष्य लिखे जाने की परंपरा को पुनर्जीवित किया है। इसके अतिरिक्त योग, ध्यान, दर्शन आदि अनेक विषयों पर साहित्य प्राप्त है। श्री महाप्रज्ञ का साहित्य अध्यात्म और विज्ञान का समन्वित रूप है। उनके मौलिक विचारों ने सामान्य जनता को ही नहीं, देश के शीर्षस्थ महानुभावों और अपने-अपने धर्म संप्रदायों में विश्वास रखने वालों को भी प्रभावित किया है।

श्री महाप्रज्ञ ने तीन उपासनाओं के द्वारा अपने व्यक्तित्व व कर्त्तव्य को मुखर बनाया। ज्ञानोपासना, आनन्दोपासना और शक्त्युपासना।

ज्ञानोपासना में उन्होंने ज्ञान की अविराम आराधना की है। आगमों, विभिन्न शास्त्रों का अनेक बार स्वाध्याय किया और अनेक रत्नों को प्राप्त किया। इतना ही नहीं, उन प्राप्त रत्नों को निरन्तर बांटने का प्रयत्न किया।

स्वाध्याय और ध्यान के द्वारा श्री महाप्रज्ञ ने जिस आनन्द को प्राप्त किया अथवा आनन्द की उपासना की, वह दुर्लभ थी। गुरुदेव श्री तुलसी की प्रेरणा से उन्होंने जैन योग पर वर्षों तक अनुसंधान किया। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की अनेक महत्वपूर्ण शाखा-प्रशाखाओं से अनुस्यूत कर प्रेक्षाध्यान पद्धति के नाम से उसे प्रस्तुत किया। प्रयोगों के माध्यम से अध्यात्म के बीजों को अंकुरित होने का अवसर दिया और मानवीय चेतना को जाग्रत किया।

श्री महाप्रज्ञ ने शक्ति की उपासना और साधना के लिए दीर्घकाल तक अनेक मंत्रों की साधना की। जीवन में शक्ति का बहुत महत्व होता है। शक्तिशाली व्यक्ति ही दुनिया को कुछ दे सकता है, उसका भला कर सकता है और जनता से अपनत्व प्राप्त कर सकता है। शक्ति की उपासना सर्वत्र और सबको काम्य होती है।

श्री महाप्रज्ञ का सौम्य एवं शांत स्वभाव तथा मृदुतापूर्ण व्यवहार उनकी विशिष्ट संतता का परिचायक और अहिंसामय प्रशासन का एक निर्देशन है। उनके नेतृत्व में 'तेरापंथ धर्मसंघ' ने एक विशिष्ट पहचान बनाई है। ऐसे महापुरुष की छत्रछाया प्राप्त कर तेरापंथ धर्मसंघ धन्यता का अनुभव कर रहा है।

संक्षिप्त परिचय

नाम- आचार्य श्री महाप्रज्ञ

मूल नाम- नथमल

जन्म दिनांक- 14 जून, 1920

जन्म स्थान- टमकोर (झुंझनूं-राजस्थान-भारत)

माता-पिता- बालूजी- तोलारामजी चोरड़िया

दीक्षा दिनांक- 29 जनवरी, 1931

स्थान- सरदार शहर (राजस्थान)

नाम- मुनि नथमल

दीक्षा प्रदाता- श्रीमद कालूगणी (जैन तेरापंथ के अष्टम अधिशास्ता)

गुरु- आचार्य श्री तुलसी (जैन तेरापंथ के नमव अधिशास्ता)

युवाचार्य मनोनयन

5

सत्य साईं बाबा

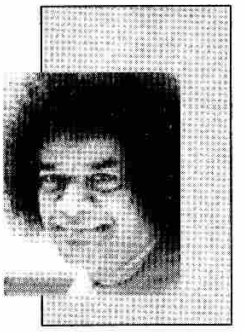

साधु-संतों की भूमि भारत में यूं तो अनेकों संत हुए परंतु कुछ संत ही हैं जिन्हें भगवान का दर्जा दिया गया है या भगवान कहकर संबोधित किया गया है। पुट्टापर्थी के श्री सत्य साई उन्हीं में से एक हैं जिन्हें लोग मात्र संत या सद्गुरु के रूप में ही नहीं भगवान के रूप में पूजतते व मानते हैं।

अपने चमत्कारों के चलते यह कई बार विवादों में भी घिरे रहे परंतु इससे इनके नाम व रूतबे में कोई फर्क नहीं पड़ा। इनके भक्त इन्हें आज भी उसी श्रद्धा के साथ याद करते हैं। इतना ही नहीं न केवल इन्होंने स्वयं को शिरडी वाले साई बाबा का अवतार बताया बल्कि लोगों ने उन्हें उनका अवतार स्वीकार भी किया।

शिरडी साई बाबा और श्री सत्य साई बाबा दोनों ही प्राचीन ऋषि भारद्वाज के गोत्र में उत्पन्न हुए थे। लगभग 5600 वर्ष पूर्व भारद्वाज ऋषि को भगवान शंकर और पार्वती ने उनके कुल में तीन बार अवतार लेने का वरदान दिया था। अपने जन्म के बाद से ही श्री सत्य साई बाबा अनगिनत प्रकार के चमत्कार करने लगे थे। विभूति, अंगूठियां, लॉकेट, आभूषण, मूर्तियां, मिष्ठान, फल और औषधियों आदि का सृजन ही नहीं, बल्कि अत्यंत गंभीर प्रकृति के असाध्य रोगों, कैंसर और अन्य प्रकार की बीमारियों तथा लोगों की विपत्तियों को दूर करने लगे थे। इसीलिए आज संसार में ये भगवान के रूप में पूजे जाते हैं।

बाबा का दिव्य व्यक्तित्व

जो व्यक्ति प्रथम बार उन्हें देखता था वह ठिठक जाता था। उनका शरीर छरहरा और पांच फीट के कद का था। सिर पर घुंघराले अफ्रीकन ढंग के बालों का गोलाकार मुकुट, चेहरा अनुपातन बड़ा प्रभावशाली और शरीर पर रक्त वर्ण का पैरों तक लंबा चोला शोभा देता था।

वे नंगे पैर घूमते थे उनकी चाल धीमी और शांत थी। सर्वशक्तिमान, सर्वत्र विद्यमान वे पृथ्वी पर गतिमान थे। उनके स्वरूप में वह आकर्षण था जो दर्शनार्थी के हृदय को अद्भुत आकर्षण से तुरन्त ही वशीभूत कर लेता था।

बाबा के मुखमुण्डल पर जहां शांत भाव, अद्भुत गाम्भीर्य, साधुता दृष्टिगोचर होती थी तो कभी अचानक ही मुस्कान की छवि, आक्रोश, करुणा, दीन-हित, संवेदना, चिन्ता और विह्वलता का भाव छलकता था।

जन्म तथा परिवार

आंध्रप्रदेश के अनंतपुर जिले में पुट्टापर्थी गांव में एक सामान्य परिवार में 23 नवंबर, 1926 को श्री सत्य साई बाबा ने जन्म लिया आपके बचपन का नाम 'सत्यनारायण राजू' था। आपका जन्म एक लघु मध्यवर्गीय कृषि व्यवसायी धर्म, संगीत और कलात्मक परंपराओं वाले परिवार में हुआ। आपके पिता का नाम 'श्री वेंकप्पाराजू' और माता का नाम 'श्रीमति ईश्वरम्मा' था। इनकी पांच संतानें थी तीन पुत्र व दो पुत्रियां।

श्री सत्य साई बाबा के परदादा 'श्री कोंडम्मा राजू' प्राचीन धर्मग्रंथों के अध्येता विद्वान थे। उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा का स्वप्न दर्शन और आदेश प्राप्त करके पुट्टापर्थी में एक छोटा-सा 'सत्यभामा मंदिर' बनवाया था। सत्य साई बाबा के दादा स्व. श्री वेंकातभूत संसार से विरक्त हो गए थे। श्री सत्य साई के पिता स्व. श्री वेंकप्पाराजू ग्रामीण रंग-मंच पर पौराणिक पात्रों के अभिनय की दक्षता के लिए विख्यात थे।

बाल्यकाल

श्री सत्य साई बाबा बचपन से ही प्रेमपूर्ण, उदार, सज्जन और शांत प्रवृत्ति वाले विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। बचपन से ही आपको पशु-पक्षियों एवं दीन-दुखियों से विशेष प्रेम था।

नृत्य, गायन, पाक-क्रिया, पूजा, बच्चों को पूजा-पाठ तथा धार्मिक और नैतिक मूल्यों की शिक्षा देना, गांव के निकट चित्रावती नदी के किनारे बाल-सखाओं के साथ खेलना आदि आपको प्रिय था।

- फल, टॉफी, मिठाइयां, रबर, पेंसिल इत्यादि गांव के अपने मित्रों को चमत्कारपूर्वक सृजन करके देते रहते थे। नदी के किनारे पहाड़ी पर स्थित इमली के वृक्ष कल्पवृक्ष से विभिन्न प्रकार के फल सृजित करके उन्हें मित्रों को प्रसाद-स्वरूप प्रदान करके पुनः उसी रूप में परिवर्तित कर दिया करते थे।
- अपने गांव के ही प्राइमरी स्कूल में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की तथा दस वर्ष की आयु में पंढरपुर के 'भगवान विट्ठल (श्रीकृष्ण)' के भजन गाने वाली

पुनः श्रेयस्कर मार्ग पर- ईश्वरोन्मुखता के मार्ग पर लाना और उनकी रक्षा करना। मैं एक कार्य में संलग्न हूं, जिसे मैं प्रेम करता हूं। गरीबों के दुख दूर करना और उनके अभावों की पूर्ति करना। मुझे गर्व करने का भी एक कारण है, मैं अपनी पूजा करने और प्रेम वाले सभी सच्चे भक्तों का शरणदाता हूं।

मैं अपने जीवन लक्ष्य से, अपने संकल्पों से कदापि विरक्त नहीं होऊंगा। मैं मान और अपमान को, कीर्ति को, जो भी सामने आये, सम-भाव से ग्रहण करता हूं।

मेरी महिमाओं का मूल्यांकन कोई नहीं कर सकता, वह चाहे जो भी हो, उसके परीक्षण को चाहे जो विधि हो और कितना भी लंबा उसका प्रयास हो।

आप स्वयं आने वाले वर्षों में मेरी पूर्ण महिमा को अपनी आंखों से देख सकेंगे। भक्तों में धैर्य और सहिष्णुता आवश्यक है।

सन् 1947 के बाद से बाबा विश्व के परम सद्गुरु के रूप में उभरे।

- बाबा के 25वें जन्मदिन, 23 नवंबर, 1950 को प्रशांति निलयम (शांति का आवास) आश्रम का उद्घाटन हुआ। विगत पांच दशकों में यह प्रशांति निलयम एक अद्वितीय नगर का स्वरूप प्राप्त कर चुका है। यह विश्व का वास्तविक अर्थों में आध्यात्मिक हृदय है।

युवावस्था में अद्वितीय चमत्कार

- सन् 1953 में बाबा ने तीन दिन पूर्व मृत भक्त राधाकृष्ण को उस समय पुनर्जीवित किया, जब कि लाश सड़कर बदबू देने लगी थी। सन् 1971 में राबर्ट कोवन नामक अमेरिकन भक्त की मद्रास में मृत्यु हो जाने के पश्चात् बाबा ने उसे जीवित किया। अब तक बाबा के द्वारा ऐसे अनेक चमत्कार किए जा चुके हैं, जिनमें 20 अक्टूबर, 1988, विजयादशमी के दिन प्रातः 10 बजे पूर्णचन्द हॉल में बाबा का प्रवचन प्रारंभ होते ही वास्तुशिल्पी ब्रिगेडियर एस.के. बोस की हजारों लोगों की उपस्थिति में हृदयाघात से मृत्यु हो गई। प्रवचन रोककर स्वामी तुरन्त ब्रिगेडियर बोस के पास आए और उनके मृत शरीर को थपथपाते हुए कहा- बोस, उठो कुर्सी पर बैठो।
- 14 जुलाई, 1957 को संपूर्ण उत्तर भारत की आध्यात्मिक यात्रा पर गए। इस यात्रा में बाबा ने दिल्ली, प्रयाग, मथुरा, ऋषिकेश, शिवानन्द नगर (जहां उन्होंने स्वामी शिवानंद को चंगा किया और आशीर्वाद दिया), श्रीनगर आदि स्थानों में अनेक चमत्कारिक सृजन किए, लाखों लोगों को दर्शन और आशीष से अनुगृहीत किया और ज्योतिर्लिंगों में नव-शक्तिपात किया।

खुद को साईं का अवतार बताया

- 6 जुलाई, 1963, गुरु पूर्णिमा के दिन बाबा ने घोषित किया कि इस अवतार में वे शिव और शक्ति के समन्वित अवतार हैं और इस रहस्य का उद्घाटन किया कि शिरडी साईं बाबा केवल शिव के अवतार थे, जबकि अगले 'प्रेम साईं बाबा' का अवतार विशुद्ध रूप से शक्ति का अवतार होगा।
- 23 नवंबर, 1964: 38वें जन्मोत्सव पर बाबा ने एक घोषणा की- मैं साईं नाथ हूं, लोकनाथ और अनन्तनाथ हूं। मैं वही भगवान हूं, जिसने पौराणिक आख्यान गजेन्द्र मोक्ष के गजराज को, बालक ध्रुव, कुचेले (भगवान श्रीकृष्ण के सहपाठी सुदामा) और असहाय प्रहलाद (राक्षस राजा हिरण्यकश्यपु के पुत्र) की रक्षा की थी।

जगत को बाबा का योगदान

1. 1944 में सत्य साईं बाबा के भक्तों द्वारा एक मंदिर का निर्माण पुट्टापर्थी में कराया गया। ये आजकल पुराने मंदिर के नाम से जाना जाता है। नए आश्रम प्रशांति निलयम का निर्माण कार्य 1948 में शुरू हुआ और ये 1995 तक बनकर तैयार हो गया। 1957 में सत्य साईं बाबा उत्तरी भारत के मंदिरों में एक छोटा मुफ्त अस्पताल पुट्टापर्थी में बनवाया जो गांववासियों के लिए एक अच्छा संकेत था।
2. 1968 में सत्य साईं ने धरमक क्षेत्र (सत्यम मंदिर) का निर्माण मुंबई में कराया।
3. 1973 में हैदराबाद में शिवम मंदिर का निर्माण हुआ तथा 19 जनवरी, 1981 को सुंदरम मंदिर, चेन्नई का उद्घाटन किया गया।
4. सत्य साईं बाबा जहां पैदा हुए तथा जीवन भर रहे वो एक छोटा सा स्थान था आंध्र प्रदेश में, परंतु आज वहां एक विश्वविद्यालय, एक अस्पताल, (चैतन्य ज्योति) जो कि एक धार्मिक संग्रहालय है, जहां सत्य साईं द्वारा अर्जित पुरस्कारों को रखा गया है, एक तारा मंडल, एक रेलवे स्टेशन, एक प्रशासनिक इमारत, एक एयरपोर्ट, एक स्पोर्ट्स कॉम्पलेक्स आदि हैं। कुछ बड़े राजनीतिज्ञ जैसे- पूर्व राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम, पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी, आंध्र प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री कोनीजेटी रोसाइया तथा कर्नाटक के मुख्यमंत्री बी.एस. येदुरप्पा मुख्य अतिथियों के रूप में आश्रम में आते-जाते थे।

सत्य साईं बाबा के 80वें जन्मदिवस पर पुट्टापर्थी में करोड़ों लोगों के साथ 13, बी.आई.पी. दस्ते भारत तथा अन्य 180 देशों के लोगों ने भाग लिया। सत्य साईं अपना अधिक समय 'प्रशांति निलयम' में ही बिताते थे तथा गर्मियों के दिनों में सत्य साईं अपने

9. श्री सत्य साईं जनरल अस्पताल वाइटफिल्ड बैंगलोर 1977 में बनाया गया था जोकि सभी प्रकार की सर्जरी के लिए जाना है। यहां खाना तथा दवाइयां मरीजों को मुफ्त में मुहैया कराई जाती हैं। अस्पताल लगभग ढाई लाख लोगों की देख-रेख करता है।

सामाजिक कार्य

1. सत्य साईं ट्रस्ट ने विभिन्न पेय जल परियोजनाओं में समय-समय पर अपना योगदान दिया है।
2. एक परियोजना 1996 में पूरी कर ली गई जोकि 1.2 लाख लोगों को पानी मुहैया कराती है, इसके अंतर्गत 75 गांव आते हैं ये अनंतपुर जिला आंध्र प्रदेश में हैं।
3. दूसरी पेयजल परियोजना 2004 में पूरी हुई जो चेन्नई में पानी की पूर्ति करती है। इसे एक जलमार्ग के द्वारा विभिन्न गांवों तक पहुंचाया जाता है जिसका नाम 'सत्य साईं बाबा गंगा कनाल' है।
4. इसके अलावा अन्य परियोजना के द्वारा भी लोगों को लाभ मिल रहा है, जैसे- मेडक जिला सहित 179 गांवों के 4-5 लाख लोगों को लाभ तथा मेहबूबनगर जिला परियजोना 141 गावों के 3.5 लाख लोगों को लाभान्वित कर रही है।
5. जनवरी 2007 में श्री सत्य साईं सेंट्रल ट्रस्ट ने लातूर (महाराष्ट्र) में पेयजल परियोजना की शुरुआत की।
6. 2008 में बाढ़ आने से उड़ीसा के लाखों लोग प्रभावित हुए, इनकी मदद के लिए श्री सत्य साई सेवा संगठन ने 699 घरों का निर्माण अपने पहले दौर में करवाया, (16 गावों में मार्च 2009 में)।
7. इसके साथ ही सत्य साई बाबा के सम्मान में तथा उनके कार्य को ध्यान में रखते हुए भारतीय पोस्ट विभाग, भारत सरकार ने एक पोस्टेज स्टैंप तथा पोस्टेज कवर भी लांच किया जिस पर उनकी पेयजल परियोजना की तस्वीरें थीं।

■

6

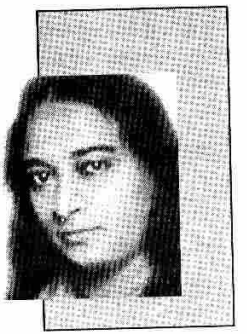

परमहंस योगानंद

अपने जन्म के सौ वर्ष बाद, आज श्री श्री परमहंस योगानंद की गणना उस समय की परम विशिष्ट आध्यात्मिक विभूतियों में होती है और उनके जीवन एवं शिक्षाओं का प्रभाव निरंतर बढ़ता ही जा रहा है। दशकों पूर्व उनके द्वारा प्रतिपादित बहुत से धार्मिक एवं दार्शनिक विचार और पद्धतियां अब शिक्षा, मनोविज्ञान व्यवसाय, चिकित्सा और अन्य क्षेत्रों में अभिव्यक्ति पा रही हैं तथा इस प्रकार मानव जीवन को एक अधिक एकीकृत, मानवीय एवं आध्यात्मिक स्वरूप देने में योगदान दे रही हैं।

परमहंस योगानंद जी ने अपने जीवन में ही यह सिद्ध कर दिया था कि वे महान योगी हैं और ऐसे कम ही विरले योगी हुए हैं, जिन्होंने न केवल भारत मे बल्कि पूरे विश्व में ख्याति पाई। इन्हें बचपन से दैविक शक्तियां प्राप्त थीं। योगानन्द जी द्वारा स्थापित 'योगदा सत्संग सोसायटी' आज पूरे विश्व में क्रिया योग विज्ञान के जरिए विश्व कल्याण में पूरी तत्परता से जुटी है।

एक ईश्वर विहित कार्य, एक दृढ़ आध्यात्मिक संकल्प ईश्वर के लिए अप्रतिबंधित सम्पूर्ण समर्पित जीवन पूर्व और पश्चिम के बीच सजीव सेतु-ये विशिष्टताएं परमहंस योगानंद जी के जीवन और कार्य का सारांश प्रस्तुत करती हैं।

स्वामी परमहंस का जन्म पूर्वोत्तर भारत में हिमालय पर्वत श्रेणी के निकट गोरखपुर में 5 जनवरी, 1893 को हुआ था। जहां इनके जीवन के पहले आठ वर्ष व्यतीत हुए थे। परमहंस माता-पिता की चौथी संतान थे। परमहंस योगानंद जी का मूल नाम 'मुकुन्दलाल घोष' था। उन्होंने कोलकाता विश्वविद्यालय से स्नातक की डिग्री हासिल कर 1915 में संन्यास ग्रहण कर लिया। संन्यास ग्रहण करने के बाद ये

मुकुन्दलाल से योगानंद हो गए और 1935 में इनके गुरु 'श्री युक्तेश्वरजी महाराज' ने इन्हें परमहंस की उच्चतर उपाधि प्रदान की।

इनके माता-पिता बंगाली क्षत्रिय थे। दोनों ही संत-प्रकृति के थे। योगानंद के पिता 'श्री भगवतीचरण घोष' असाधारण गणितज्ञ और तर्कशास्त्रवेता थे। माता ज्ञानप्रभा घोष स्नेह की देवी थीं, जो सभी बच्चों को केवल प्रेम के द्वारा ही कोई कार्य सीखाती थीं। योगानंद जी की माता जी ने सभी बच्चों को बचपन से ही धर्मग्रंथों के कटु-मधुर विचारों से परिचय करवा दिया था। अनुशासन की आवश्यकता पड़ने पर मां रामायण और महाभारत से प्रसंगोचित कहानियां बच्चों को सुनाती थीं। ऐसे अवसरों पर डांट और शिक्षा, दोनों ही साथ-साथ चलते थे। इनके पिता भारत की तत्कालीन बड़ी कंपनियों में से एक बंगाल-नागपुर रेलवे में उपाध्यक्ष पद के समकक्ष पर कार्यरत थे।

परिवार पर गुरु लाहिड़ी महाशय का प्रभाव

योगानंद जी के माता-पिता गुरु 'लाहिड़ी महाशय' के बड़े भक्त थे। इनके परिवार में लाहिड़ी महाशय का इतना प्रभाव था कि योगानंद जी के पिता जी का जहां-जहां भी स्थानान्तरण होता, वहां-वहां लाहिड़ी महाशय की एक सुंदर, अलंकृत फ्रेम में सजी हुई फोटो पूजाघर में अन्य देवी-देवताओं के साथ रख देते थे। इससे योगानंदजी के जीवन पर लाहिड़ी महाशय का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। जैसे-जैसे योगानंद जी बड़े होते गए वैसे-वैसे इनके मन पर महान गुरु का विचार अधिक दृढ़ होता गया। उनके ध्यान में प्रायः लाहिड़ी महाशय दिखाई पड़ते थे। उन्हें लगता था कि जब वह ध्यान करते हैं, तो लाहिड़ी महाशय फोटो फ्रेम से जीवित रूप धारण कर सामने बैठ गए हों और जब वे उनको छूने का प्रयास करते, तब वे बदल कर पुनः चित्र बन जाते हैं। किसी उलझन या परीक्षा की घड़ी में योगानंद प्रायः लाहिड़ी महाराज से प्रार्थना करते, जिससे वे अपने अंदर सांत्वनादायक मार्गदर्शन पाते थे।

योगानंद जी के जीवन में लाहिड़ी महाशय का चमत्कार

लगभग 8 वर्ष की आयु में योगानंद जी को लाहिड़ी महाशय की फोटो के माध्यम से चमत्कारी स्वास्थ्य लाभ का आशीर्वाद प्राप्त हुआ था। जब वे बंगाल के इच्छापुर में अपने पारिवारिक घर में रह रहे थे, तब उन्हें हैजा हो गया था। बचने की कोई आशा नहीं थी। डॉक्टर भी कुछ नहीं कर पा रहे थे। तब, बिस्तर के पास बैठी मां ने भावविह्वलता के अतिरेक के साथ मेरे सिर के ऊपर टंगी लाहिड़ी महाशय की फोटो की ओर देखने को कहा।

जब, उन्होंने उनकी फोटो की ओर देखा तो वहां आंखें चौंधियाने वाला प्रखर प्रकाश दिखायी पड़ा, जो उनके शरीर के साथ पूरे कमरे को अपने आगोश में ले रहा था। तत्क्षण ही उनमें इतनी शक्ति आ गई कि अचानक स्वस्थ होकर चलने-फिरने लगे। तब, अपने गुरु में अपार श्रद्धा रखने वाली उनकी मां बार-बार उस छोटी-सी फोटो पर अपना माथा टेक रही थीं। तब, योगानंद जी को समझ में आ गया कि उन्होंने लाहिड़ी महाशय के उस तेजोमय ज्योति का दर्शन किया था, जिसकी महिमा से वह उस प्राणघातक साबित होने वाली बीमारी से एकाएक स्वस्थ हो गए थे।

लाहिड़ी महाशय के चित्र की महिमा से स्वास्थ्य लाभ करने के थोड़े दिन बाद ही उन्हें एक प्रभावकारी दिव्य-दर्शन हुआ। एक दिन प्रातः जब योगानंद जी अपने बिछौने पर बैठे एक गहन दिवास्वप्न में डूब गए। तत्क्षण ही उनकी अंतर्दृष्टि के सामने प्रखर प्रकाश कौंध गया और उनके ललाट में विस्तीर्ण दीप्तिमान पट पर पर्वत-गुफाओं में ध्यानस्थ बैठे संतों की आकृतियां छोटे-छोटे चलचित्रों की भांति प्रकट होने लगीं।

शब्द शक्ति का प्रयोग

योगानंद जी की बचपन की एक अन्य स्मृति असाधारण थी और उल्लेखनीय भी है, क्योंकि उसका चिह्न आजीवन उनके हाथों पर रहा था। वाक्या इस प्रकार है, एक दिन प्रातः समय योगानंद जी और उनकी बड़ी बहन 'उमा' अपने गोरखपुर के घर के अहाते में नीम के पेड़ के नीचे बैठी थी। तभी, उनकी उमा दीदी ने अपने पैर पर फोड़ा होने की बात बतायी और वह उस पर लगाने के लिए मरहम की एक डिबिया ले आई। उससे योगानंद जी भी थोड़ा मरहम लेकर अपने हाथ पर लगा लिए। जब उनकी दीदी ने कहा कि तुम क्यों मरहम लगा रहे हो? तो उन्होंने कहा कि कल मुझे भी फोड़ा होने वाला है और तुम्हारा फोडा दुगना बड़ा हो जाएगा। तो किसी ने विश्वास नहीं किया। लेकिन, अगली सुबह उनके हाथों पर बहुत बड़ा फोड़ा भी निकल आया और उनकी बहन का फोड़ा आकार में दोगुना हो गया। तब, उनकी बहन चीखती हुई मां के पास भागी और मां से कहा कि उसका भाई जादू टोना करना सीख गया है। तब मां ने सख्त हिदायत देते हुए कहा कि वह किसी को भी हानि करने के लिए अपने शब्द शक्ति का प्रयोग कभी न करे।

मां का देहान्त और अलौकिक तावीज

अपने बड़े भाई 'अनंत' की सगाई के समय योगानंद जी लगभग ग्यारह वर्ष के थे और इनकी मां कोलकाता में अत्यंत उल्लास से विवाह की तैयारियां में जुटी हुई थीं।

तब योगानंद जी अपने पिताजी के साथ बरेली में थे और मंगलोत्सव में पहुंचने का विचार कर रहे थे। परंतु, उस शुभ दिन से थोड़े पहले ही उन्हें एक अमंगलसूचक दृश्य का आभास हुआ, उन्हें लगा कि उनकी मां उनसे कह रही है कि पिताजी के साथ जल्दी आ जाओ, क्योंकि मेरा दुनिया से जाने का वक्त अब आ गया है। अगर थोड़ी भी देर हुई तो फिर कभी मुझसे नहीं मिल पाओगे। इस अशुभ आभास से योगानंद काफी विचलित हो गये और अपने पिताजी को जल्द से जल्द घर की ओर रवाना होने के लिए कहा। जब वह कोलकाता पहुंचे तो उनका अशुभ आभास सच में साबित हो चुका था। तब, योगानंद पूरी तरह टूट गए थे।

लेकिन, समय बीतता गया और मां के गुजर जाने के 14 महीने बाद योगानंद जी को यह मालूम पड़ा कि, उनकी मां उनके लिए कोई महत्वपूर्ण संदेश छोड़ गई हैं। उनके बड़े भाई ने एक छोटी-सी डिबिया दी और मां का संदेश सुनाते हुए कहा कि मां को पता था कि तुम (यानी योगानंद) आगे चलकर संन्यासी बन जाएगा। क्योंकि उनके गुरु लाहिड़ी महाशय ने पहले ही बता दिया था कि तुम आगे चलकर संन्यासी बनोगे। इसके अलावा जब उनकी मां पंजाब गयी थीं, तब वहां एक साधु ने उन्हें ताबीज देते हुए कहा था कि जब योगानंद बड़ा हो जाय, तो उसे यह ताबीज दे दिया जाए ऐसा कहते हुए बड़े भाई ने योगानंद को ताबीज थमाया।

ज्यों ही ताबीज योगानंद ने हाथ में लिया, त्यों ही उसके चारों ओर ज्ञान का उज्जवल प्रकाश छा गया, अनेक स्मृतियां जागृत हो उठीं। उन्हें समझ में आ गया कि इस जन्म के जीवनपथ पर भी अदृश्य रूप से उनका मार्गदर्शन करने वाले उनके पूर्वजन्मों के गुरुओं ने इसे भेजा है।

पिता को दिए वचनों को पूरा किया

योगानंद जी का मन पढ़ाई में बहुत कम ही लगता था। लेकिन, योगानंद जी ने अपने पिता जी को वचन दे रखा था कि वह अपनी हाई स्कूल की पढ़ाई अवश्य पूर्ण करेंगे। हालांकि, वह परिश्रमी विद्यार्थी नहीं थे। महीने दर महीने बीतते गये, पर वह विद्यालय में कम और कोलकाता के स्नान-घाटों के आसपास सुनसान जगहों पर अधिक समय व्यतीत किया करते थे। हाई स्कूल की वार्षिक परीक्षा का समय तेजी से निकट आ रहा था। परीक्षा का यह समय भी योगानंद जी के मन में भूत-प्रेतों से युक्त श्मशान घाटों की तरह दहशत उत्पन्न कर रहा था।

परंतु, पिताजी को दिए गए वचनों के अनुसार, उन्होंने हाई स्कूल की पढ़ाई पूरी की। जिससे पिताजी खुश हुए। फिर, उन्होंने उच्च व आध्यात्मिक शिक्षा वाराणसी

जाकर ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। जिसका विरोध उनके पिता जी ने किया था। लेकिन, पिता के इच्छा के विरुद्ध वह वाराणसी चले गए।

गुरु शिष्य का मिलन

अपने परिवार से वियोग की कल्पना एक दिन गहरा विषाद बनकर उनमें छा गई। पिताजी की अनिच्छापूर्ण स्वीकृति के बावजूद वह अपने मित्र जितेन्द्र के साथ वाराणसी के लिए निकल पड़े। कोलकाता से अपने साथ वह जो दौलत लाए थे। जिसे उन्होंने संभालकर आश्रम के अपने कमरे में छुपा कर रखा था। एक दिन उन्हें तावीज देखने की इच्छा हुई, जब उन्होंने बंद डिबिया को खोला, तो आश्चर्य डिबिया से तावीज गायब था। जिससे योगानंद जी काफी दुखी हो गए थे।

साथ में आश्रम में दयानंद जी के शिष्यों के साथ उनके संबंध कुछ खट्टे चल रहे थे और दिनोंदिन रिश्ते बिगड़ते चले जा रहे थे, जिससे योगानंद जी उदास रहने लगे। जिसकी वजह से आश्रम के अन्य साथी इनसे अलग रहने लगे। इस बीच एक दिन योगानंद जी को गेरूआ परिधान धारण किए एक महापुरुष संत निश्चल खड़े दिखाई पड़े। उन पर दृष्टि पड़ते ही योगानंद जी को ऐसा लगा मानो युग-युगांतर से वे उन्हें जानते हों। एक क्षण के लिए उनकी प्यासी आखों ने उनका लोलुपता से पान किया। परंतु, मन में संशय भी हो उठा। लेकिन, उन्हें लग रहा था कि जैसे वह महापुरुष उन्हें चुंबकीय ढंग से अपनी ओर खींच रहे हैं।

और फिर क्या था। देखते ही देखते योगानंद जी उस दिव्यपुरुष के पास खींचे चले आए। उन्हें लगा कि वह दिव्य पुरुष हैं, जिनकी इन्हें तालाश थी। योगानंद जी जब उस दिव्य पुरुष के पास पहुंचे तो उस दिव्य पुरुष ने कहा 'ओ मेरे प्रिय, तुम मेरे पास आ गये। कितने वर्षों से मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था।' निःशब्दता की एकता में दोनों एक हो गये, शब्दों का प्रयोजन निकृष्टतम् प्रतीत होने लगा। कायल करने वाला संवाद गुरु के हृदय से शब्द रहित सांत्वना बन शिष्य के हृदय में समाता चला गया। अपने अंतर्मन में योगानंद जी निर्विवाद रूप से जान गए कि मेरे गुरु ईश्वर को जानते हैं और उन्हें ईश्वर तक पहुंचने में वह उनकी मदद कर सकते हैं। उन्हें लगा कि जीवन का अंधकार पूर्व जीवन की स्मृतियों के मधुर अरुणोदय में अदृश्य हो गया। इस रोमांचक समय में भूत, वर्तमान और भविष्य कालचक्र पर चक्राकार घूमते दृश्य नजर आ रहे हों। मानो सूर्य इन पवित्र चरणों में उन्हें पहली बार नहीं देख रहा था।

फिर गुरुजी, योगानंद जी को अपने साथ काशी के राणामहल क्षेत्र में स्थित अपने आश्रम पर ले आये। गुरुजी श्री युक्तेश्वर जी महाराज के बारे में योगानंद जी ने अपनी

जीवन 'योगी कथामृत' में लिखा है कि उनके गुरुजी का शरीर हृष्ट पुष्ट था। पचपन वर्ष की आयु होने के बावजूद उनकी लम्बी और सीधी देह में युवकों सी चपलता और कार्यक्षमता थी। उनमें शक्ति और सौम्यता का सूक्ष्म संगम था। योगानंदजी ने यह भी अपनी जीवनी में लिखा है कि 'जब वह अपने गुरु के चरणों पर माथा टेकते थे, तब उनका सम्पूर्ण शरीर एक मुक्तिप्रदायक तेज से भर जाता था।' श्री युक्तेश्वर जी का प्रभाव योगानंद जी पर इस कदर पड़ा था कि वह जब कभी चिंतित या अन्यमनस्य मन से आश्रम में प्रवेश करते थे तब उनकी मनोवृत्ति अगम्य ढंग से बदल जाती थी। अपने गुरु के दर्शनमात्र से ही एक प्रकार की सुखद शांति आ जाती थी। उनके सान्निध्य में प्रतिदिन आनंद, शांति और ज्ञान का एक नया अनुभव होता था। उन्होंने अपने गुरुजी को कभी भी माया के आकर्षण से ग्रस्त या लोभ, क्रोध अथवा किसी के प्रति मानवी अनुरक्ति की भावना से उत्तेजित नहीं देखा।

योगानंद जी ने अपने गुरुदेव के बारे में लिखते हुए कहा कि 'यदि उनकी वाणी स्पष्ट और कटु नहीं होती तो वे भारत के सबसे लोकप्रिय गुरु होते।'

मुकुंद से योगानंद जी तक का सफर

स्नातक की शिक्षा पूरी होने के कुछ सप्ताह बाद जुलाई 1915 योगानंद जी के लिए सबसे अविस्मरणीय दिन था, जब श्रीरामपुर आश्रम में श्री युक्तेश्वर जी ने एक श्वेत रेशमी वस्त्र को संन्यास धर्म के परंपरागत गेरुएं रंग में डुबोकर संन्यासी के वस्त्र के तौर पर उनके बदन पर लपेट दिया। श्री युक्तेश्वर जी ने कहा मुझे अनुष्ठान, संस्कार आदि के कर्मकांड में कोई रुचि नहीं है। मैं तुम्हें विद्वत् पद्धति से संन्यास दीक्षा दूंगा। सादगी प्रेमी श्री युक्तेश्वर जी महाराज से सभी औपचारिक विधियों को त्यागते हुए उन्होंने कहा कि 'नाम चुनने का अधिकार मैं तुम्हें देता हूं।' एकपल सोचते हुए मुकुंद ने कहा 'योगानंद जिसका अर्थ होता है ईश्वर के साथ मिलन का आनंद। तभी गुरुजी ने कहा 'तथास्तुः।' अब से तुम स्वामी परंपरा की गिरी शाखा के 'योगानंद' कहलाओगे।

क्रिया योग विज्ञान को जन-जन तक पहुंचाया

संन्यास ग्रहण करने के दो साल बाद सन् 1917 में उन्होंने 'योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इंडिया' की स्थापना की। उसके तीन वर्ष बाद, सन् 1920 में योगानंद जी को यूनाइटेड स्टेटस के बोस्टन शहर में होने वाले धार्मिक उदारवादियों के इंटरनेशनल कांग्रेस ऑफ रिलिजियस लिबरल में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में भाग लेने के लिए बुलाया गया। लेकिन, उनका मन अपनी मातृभूमि को छोड़कर जाने की

इजाजत नहीं दे पा रहा था। परंतु, उन्होंने निश्चय किया की भारतीय आध्यात्मिक आदर्श और प्राचीन आत्मीय विज्ञान के 'क्रिया योग विज्ञान' को पूरे विश्व में फैलाना ही ईश्वर की सच्ची भक्ति होगी। क्रिया योग, जिसे राजयोग भी कहा जाता है, अगर इसे पूरे विश्व में फैलाना है तो इस निमंत्रण को स्वीकारना ही होगा और उन्होंने विश्व कल्याणार्थ हेतु इस निमंत्रण को स्वीकारा। इस तरह 'परमहंस योगानंद' ने अपनी यात्रा के दौरान क्रियायोग विज्ञान के जरिए भारतीय प्राचीन संदेशों को पश्चिमी देशों में फैलाया।

सन् 1925 में परमहंस योगानंद जी ने अपनी शिक्षा के प्रसार के लिए 'सत्संग सोसाइटी ऑफ इंडिया' द्वारा 'सेल्फ-रियलाइजेशन फेलोशिप' की स्थापना की। अपने भारत, अमेरिका तथा यूरोप के सघन दौरों में उन्होंने कई व्याख्यान दिए तथा अनेकों आश्रम व ध्यान केन्द्र बनवाकर, उनके माध्यम से उन्होंने हजारों सत्यान्वेषियों को योग के प्राचीन विज्ञान क्रियायोग विज्ञान एवं दर्शन से तथा इसकी सर्वानुकूल ध्यान पद्धतियों से पूरे विश्व को परिचित करवाया।

महान गुरु की महासमाधि

ऐसा कहा जाता है कि एक ईश्वर-प्राप्त योगी अपने योगिक शरीर का आकस्मिक रूप से त्याग नहीं करता। उनको पृथ्वी से अपने महाप्रयाण के समय का पूर्व ज्ञान होता है। अपने अंतिम वर्षों में परमहंस जी ने अंतरंग शिष्यों को कई संकेत दिए कि वे मार्च 1952 में शरीर छोड़ देंगे।

7 मार्च, 1952 को भारतीय राजदूत श्री विनय रंजन सेन के सम्मान में आयोजित भोज के अवसर पर भाषण संक्षिप्त था। पूरे सभागार में एक गहरी शांति छा गई। ऐसा लगता था जैसे पूरी सभा महान गुरु के शांति तथा प्रेम के अपूर्व स्पंदनों के प्रभाव में थी। उन्होंने अपने भाषण को अपनी कविता मेरा भारत की कुछ पंक्तियों से समापन किया। जहां गंगा, वन, हिमालय की गुफायें और जहां मानव ईश-चिन्तन में डूबा-डूबा उस माटी के स्पर्श से मैं धन्य हुआ, और इन शब्दों के साथ परमहंस जी परम शांति में विलीन हो गए, उनके चेहरे पर एक मोहक मुस्कान थी।

परमहंस योगानन्द जी ने जीवन में ही नहीं, वरन् मृत्यु में भी सिद्ध कर दिया की वे महान योगी थे। उनके देहावसान के कई सप्ताह बाद भी उनका अपरिवर्तित चेहरा अक्षयता की दिव्य कान्ति से देदीप्यमान था। फॉरेस्ट लॉन मेमोरियल-पार्क, लांस एंजिलिस (जहां महान् गुरु का पार्थिव शरीर अस्थायी रूप से रखा गया है) के निर्देशक श्री हैरी टी रौवे ने सेल्फ-रियलाजिशन फेलोशिप को एक प्रमाणित पत्र भेजा था।

जिसमें उन्होंने लिखा था कि '27 मार्च को शवपेटिका पर कांसे के ढक्कन को बंद करने के पूर्व योगानंद जी का शारीरिक रूप ठीक वैसा ही था, जैसा 7 मार्च को इस पार्क में रखा गया था। 27 मार्च को भी उनका शरीर उतना ही ताजा और विकार रहित दिखायी पड़ रहा था, जितना मृत्यु की रात्रि को था। इन कारणों से हम पुनः अभिव्यक्त करते हैं कि परहंस योगानंदजी का उदाहरण हमारे अनुभव में अभूतपूर्व है। परमहंस योगानंद जी की मृत्यु के बाद परमहंस योगानंद जी द्वारा प्रारंभ किए गए आध्यात्मिक एवं मानवीय कार्य की बागडोर संभाली 'श्री श्री दया माता जी' ने। जो परमहंस योगानंद जी के प्रारंभिक एवं निकटतम शिष्यों में से एक थी।

विश्व सामंजस्य एवं शांति का माध्यम है योगदा आश्रम

सन् 1917 में परमहंस योगानंद जी द्वारा स्थापित 'सत्संग सोसायटी ऑफ इंडिया' तथा 1925 में लॉस एंजिलिस में 'सेल्फ रियलाइजेशन फेलोशिप' के अंतर्राष्ट्रीय मुख्यालय की स्थापना के जरिए जो कार्य शुरू किया था। वह अपनी मंजिल की ओर अनवरत से चल रही है, दीन हीन और अभावग्रस्त लोगों के लिए इस सोसायटी का दरबार सदा खुला है। यह सोसाइटी योगदा सत्संग सेल्फ रियलाइजेशन मंदिरों, आश्रमों एवं ध्यान केंद्रों की देखभाल करती है, जो सारे विश्व में फैले हुए हैं। इसके अलावा यह संन्यास प्रशिक्षण कार्यक्रम एवं विश्व प्रार्थना मंडल का भी संचालन करती है, जो आवश्यकता ग्रस्तों की दैवी सहायता तथा सारे विश्व के लिए सामंजस्य एवं शांति के माध्यम कार्य करती है। और यह कार्य सोसाइटी की अध्यक्षा 'श्री श्री दया माता' के मार्ग दर्शन में नित्य दिन नई ऊंचाईयों छूती जा रही है।

युवकों की शिक्षा में परमहंस जी की गहन अभिरुचि थी। सन् 1918 में कासिम बाजार के महाराज श्री मणीन्द्र चन्द्र नंदी ने रांची में अपने महल और पच्चीस एकड़ भूमि आश्रम एवं विद्यालय के रूप में दी, जिसे योगदा सत्संग ब्रह्मचर्य विद्यालय कहा जाता था। तत्पश्चात् यह योगदा सत्संग शाखा मठ बना जो पत्राचार कार्यालय और योगदा सत्संग पाठमाला एवं योगदा सत्संग सोसाइटी के प्रकाशनों के वितरण केन्द्र का कार्य करता है। सन् 1936 में परमहंस जी ने योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इंडिया (वाई.एस.एस.) को एक असांप्रदायिक और धर्मार्थ संस्था के रूप में पंजीकृत करवाया। वाई.एस.एस. का पंजीकृत मुख्य कार्यलाय योगदा सत्संग मठ है, जो कि दक्षिणेश्वर, कोलकाता में गंगा के किनारे स्थित है।

1917 में योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इंडिया तथा 1925 में लॉस एंजिलिस (यू.एस.ए.) में सेल्फ-रियलाइजेशन फेलोशिप के अंतर्राष्ट्रीय मुख्यालय की स्थापना के

साथ जो कार्य उन्होंने शुरू किया, वह आज श्री श्री दया माता के मार्गदर्शन में चल रहा है। परमहंस योगानन्द जी की रचनाएं, उनके व्याख्यान, कक्षाएं, अनौपचारिक भाषण इत्यादि का प्रकाशन करने के साथ-साथ (जिसमें क्रिया योग ध्यान पर विस्तृत पाठमाला शामिल है), यह सोसाइटी योगदा सत्संग/सेल्फ-रियलाइजेशन मंदिरों, आश्रमों एवं ध्यान केंद्रों की देखभाल करती है जो सारे विश्व प्रार्थना मंडल का भी संचालन करती है जो आवश्यकता ग्रस्तों को दैवी सहायता तथा सारे विश्व के लिए सामंजस्य एवं शांति के माध्यम का कार्य करती है।

करीबन 17 एकड़ में फैला परमहंस योगानन्द मार्ग पर स्थित योगदा आश्रम, अपने आप में एक अनूठी आध्यात्मिक मिसाल है, जिसमें सभी वर्ण-वर्गों के लोगों का स्वागत है, जो भगवत प्राप्ति की इच्छा रखते हैं, आश्रम में दूसरे राज्यों से आये भक्तों का ठहरने की व्यवस्था हेतु एक सुन्दर भवन है।

योगदा आश्रम के विशाल प्रांगण में बिखरी प्राकृतिक सुन्दरता की छटा देखते ही बनती है। प्रवेश द्वार के सामने दोनों ओर की क्यारियों में लदे विभिन्न रंगों के डेहलिया आपका स्वागत करते हैं, स्वागत कक्ष के सम्मुख फूलों से घिरे फव्वारे की छटा संध्या समय मुखरित होती है। सुन्दर मखमली घास के मैदान स्मृति-मन्दिर के चारों ओर आप को आकृष्ट करते हैं, गुलाब-वाटिका में विभिन्न रंगों के बड़े-बड़े गुलाब तथा उसके आसपास क्यारियों की सज्जा, संगमरमर के टुकड़ों से बनी पगडंडियां, हर तरह की छोटी बड़ी क्यारियों की सुव्यवस्थित सज्जा, मछलियों के छोटे से तलाब में फव्वारा, तिकोने पण-समूहों से निर्मित नन्हें-नन्हें विश्राम-स्थल सभी कुछ सुरुचिपूर्ण कलात्मकता तथा आध्यात्मिक शांति का द्योतक है।

योगदा-प्रांगण में लीची, आम, तथा कटहल के अनेकों पेड़ों के अतिरिक्त अशोक और बांस के पेड़ भी जैसे आकाश को छूने की साधना कर रहे प्रतीत होते हैं।

योगदा प्रांगण में भक्तजनों का अति प्रिय श्रद्धापूजित स्थल है- लीची का पेड़, जहां 1917-1920 में तत्कालीन योगदा विद्यालय के बालकों को परमहंस योगानन्द जी के चरण कमलों में बैठकर मुक्त आकाश तथा लीची पेड़ के नीचे आदर्श जीवन पद्धति एवं आधुनिक शिक्षा का ज्ञान प्राप्त हुआ। आश्चर्यजनक रूप से पांच पेड़ों का समूह एक स्थान पर होने कारण इस की जड़ें एक दूसरे से लिपटी हुई हैं, परिणामतः एक अत्यन्त विशाल तथा घना पेड़ प्रस्तुत होता है जो आज भी साधना के लिए योगदा सन्यासियों तथा भक्तों के लिए अति प्रिय स्थान है। यहां परमहंस योगानन्द जी के चित्र के सम्मुख बैठकर भी श्रद्धालु जन ध्यान में मार्ग-दर्शन एवं आशीर्वाद प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मचारी ललितानंद जी ने इस वृक्ष की विशेषता बताते हुए कहा, इस वृक्ष की लीची की की गुठली अविश्वसनीय रूप से छोटी तथा गूदाधिक है और इसे सेन्ट्रल हार्टिकल्चर सोसाइटी, रांची ने योगदा वैरायटी का नाम दिया है।

मुख्य कार्यालय के स्वागत कक्ष की बाईं दीवार पर परमहंस योगानन्द जी के सम्मुख जीवन काल के संकलित चित्र उनकी अनुपम तथा भारत और विदेश में किये गए उनके कार्यकलापों को दर्शाते हैं। यहां परमहंस योगानन्द जी द्वारा रचित पुस्तकें एवं प्रवचनों के आडियो कैसट्स बिक्री के लिए उपलब्ध हैं।

परमहंस योगानन्द जी के कक्ष को उनकी पुण्य-स्मृति अथवा संग्रहालय के रूप में ठीक उसी भांति संजोया हुआ है जैसे उनके रांची-निवास के समय था। उनके तखतनुमा पलंग के मध्य में छोटी सी वेदी पर योगानन्द जी चित्र पुष्पों में मध्य सुशोभित है। कक्ष के पश्चिमी ओर के मध्य में एक लकड़ी के फ्रेम में परमहंस योगानन्द जी के दोनों चरण-कमलों तथा हस्त-चिन्हों की छाप प्लास्टर आफ पेरिस में सुरक्षित हैं।

परमहंस योगानन्द जी द्वारा प्रयुक्त कुर्सी पर ताजा गुलाब तथा पुष्प एवं मोतियों की माला द्वारा सुसज्जित चित्र उनकी उपस्थिति का प्रतीक माना जाता है। उनके द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली वस्तुएं (वस्त्र, छाता, इत्यादि) भी एक संग्रहालय पेटी में संरक्षित हैं।

आश्रम के मध्य, श्वेत संगरमर से निर्मित, स्मृति मन्दिर अपनी मनोहर आभा एवं नीरव उज्वलता से मंत्रमुग्ध कर देने वाला 32 खम्बों पर स्थित अष्टभुजाकार स्मारक है। शीर्ष पर उन्मीलित कमल, वेदी पर पद्मासन में बैठे परमहंस योगानन्द जी की तस्वीर ने सम्पूर्ण वातावरण को आध्यात्मिक स्पन्दनों से आप्लावित कर रखा है। अपनी भव्यता एवं आध्यात्मिक गौरव गाथा को बिखेरता यह स्मारक, झारखंड की भूमि पर अपनी तरह का अनूठा स्मारक है जिसमें स्थापत्य एवं विभिन्न वास्तुकलात्मक शैलियों का सामंजस्यपूर्ण सम्मिश्रण किया गया है। इस स्मारक का निर्माण ठीक उसी स्थल पर किया गया है जहां पर 1920 में ध्याममग्न परमहंस योगानन्द जी को दिव्य दर्शन हुआ था, कि उन्हें अमेरिका जाना है। उनकी अंतर्दृष्टि के समक्ष पाश्चात्य लोगों की मुखाकृतियों की एक लम्बी कतार सी गुजरती गई। योगानन्द जी द्वारा कल्पित, अद्वितीय वास्तुकलात्मक शैलियों को सामंजस्यपूर्ण रूप से सम्मिश्रित करता हुआ यह संगमरमर का मंदिर, भारत के दीर्घकालीन इतिहास में वास्तुकला की उभरी विभिन्न शैलियों के मधुर सम्मिश्रण के फलस्वरूप हमारी बहुवर्णी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। यह स्मारक महान गुरु के अलौकिक प्रेम और अवबोधन के उपहार का दीप्तिमान प्रतिबिम्ब है।

अन्य सेवाएं-

पात्र उपलब्ध कराने के अतिरिक्त योगदा सत्संग सोसाइटी भारत में विभिन्न शैक्षणिक एवं समाज सेवी क्रियाकलापों में भी संलग्न है।

परमहंस योगानन्द जी द्वारा प्रतिपादित आदर्श जीवन-पद्धति पर आधारित विद्यालय तथा अन्य शिक्षा संस्थानों का संचालन इन गतिविधियों में से एक है। योगदा सत्संग सेवाश्रम (अस्पताल) तथा अनेक अन्य निःशुल्क स्वास्थ्य केन्द्रों के माध्यम से निर्धनों की स्वास्थ्य सेवाओं में भी संलग्न है। कुष्ट रोगियों, तपेदिक के रोगियों तथा निर्धनों की चक्षु-शल्य-चिकित्सा की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

एक अन्य अनूठी एवं उत्कृष्ट सेवा जो यो.स.सो. प्रदान कर रही है, वह है- विश्व व्यापी समूह। परमहंस योगानन्द जी ने योगादा सत्संग सोसाइटी ऑफ इंडिया सेल्फ रीयलाइजेशन फैलोशिप के संन्यासी शिष्यों में एक प्रार्थना सभा तथा यो.स.सो. सै.री.फै. के सदस्यों एवं मित्रों में एक विश्व व्यापी प्रार्थना समूह की स्थापना की जिसके अंतर्गत प्रतिदिन ये भक्त उन सब के लिए प्रार्थना करते हैं जिन्हें प्रभु की सहायता की आवश्यकता है। इसके माध्यम से सहस्त्रों जन शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक लाभ प्राप्त कर चुके हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द गिरि, 22 वर्ष की छोटी आयु में संन्यास लेने के बाद, पिछले 27 सालों से आश्रम से जुड़े हुए हैं, इनका मानना है कि मानव जीवन का एक ही लक्ष्य है- ईश्वर की प्राप्ति और उसके लिए मनुष्य में ईश्वर को जानने की अभिलाषा होनी चाहिए। यदि न तो उसे नित्य गहरे ध्यान द्वारा जागृत किया जा सकता है।

यह पूछने पर कि ईश्वर का ध्यान कैसे किया जाए, स्वामी जी ने बतलाया, ईश्वर पर ध्यान करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने मन में भगवद् प्राप्ति के लिए, भगवान की मौजूदगी को अनुभव करने का सदा प्रयत्न करें। गहन ध्यान के लिए शारीरिक, मानसिक एवं चित की स्थिरता परम आवश्यक है।

केन्द्र के प्रतिदिन के कार्यक्रम-

आश्रम में ध्यान, सत्संग और कुछ विशेष कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं।

सामूहिक ध्यान-

7.00 बजे सुबह से 8.00 बजे सुबह प्रतिदिन रविवार को छोड़कर।

5.30 बजे संध्या से 7.00 बजे संध्या बृहस्पतिवार को छोड़कर।

5.30 बजे संध्या से 9.00 बजे संध्या बृहस्पतिवार को।

आध्यात्मिक प्रवचन और भजन-

9.30 सुबह से 11 बजे सुबह तक रविवार को।

परमहंस जी के अविर्भाव (जन्मदिवस) तथा महासमाधि दिवसों का आयोजन किया जाता है। इसी प्रकार जन्माष्टमी और क्रिसमस दिन पर विशेष ध्यान किया जाता है। इसके अतिरिक्त वर्ष में कई बार भक्तों के लिए एकांतवास द्वारा साधना विधि आयोजन की जाती है।

यहां का मुख्य आयोजन वार्षिक शरद संगम है जो अक्टूबर/नवम्बर में आयोजित किया जाता है इसमें वे भक्त जो पहले से अपना नामांकन कराते हैं, भाग ले सकते हैं, हजार से भी अधिक भक्त भारत और विदेश से इस बीच आश्रम में आकर ठहरते हैं और कक्षाओं में भाग लेकर ध्यान विधि का मूल्यांक तथा आध्यात्मिक विचारविमर्श स्वामियों से प्राप्त कराते हैं। और दूसरा बड़ा उत्सव श्री श्री परमहंस योगानन्द का जन्मोत्सव है जो जनवरी में धूमधाम से मनाया जाता है।

■

7

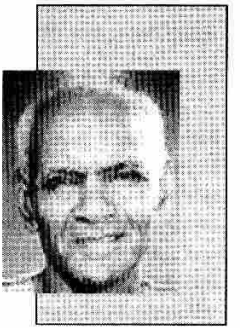

श्रीराम शर्मा आचार्य

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है जब अवतारी चेतना स्वयं धरती पर अवतरित होती है, और सबके मनों का नवनिर्माण करती है परम पूज्य पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी ऐसी ही अवतारी चेतना है जिन्होंने सम्पूर्ण समाज को जीने की कला सिखायी, जन मानस को एक दिशा दी, और गायत्री को जन जन तक पहुंचाया। वैसे तो गायत्री मंत्र प्राचीन एवं वेदकालीन मंत्र है परन्तु मध्यकाल में परिस्थितियां ऐसी बन गयी कि लोग गायत्री मंत्र को भूल गये और तरह-तरह की धारणाएं बन गयी कि गायत्री मंत्र का जाप नारी और शूद्र के लिए वर्जित है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के बाद अगर किसी ने गायत्री मंत्र का समर्थन किया तो वे थे पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी। आचार्य जी के बारे में विस्तार से कहना असंभव है क्योंकि उनका जीवन बड़ा विस्तृत है, वे एक अच्छे विचारक, चिन्तक, समाजसेवी, लेखक, स्वतंत्रता संग्रामी, के साथ-साथ युगदृष्टा, वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ, युगऋषि भी हैं। उन्होंने सोयी हुई मानवता को जगाया, उत्पीड़ित नारी को चेताया, भटकों को दिशा दी, लोकसेवियों के चिन्तन की धारा को मोड़ा, विचारकों को जनहित में सोचने के लिए मजबूर किया और बेसहारों को सहारा दिया।

जीवन भर उन्होंने लिखा, हर विषय को स्पर्श किया एवं जीवन मूर्ति की तरह भाव संवेदना को अनुप्रमाणित करने वाली अपनी लेखनी साधना की। स्वयं के बारे में वे कहते हैं- 'न हम अखबार नवीस है, न बुक सेलर, हम तो युगदृष्टा हैं। हमारे ये विचार, क्रांति के बीज हैं। वे फैल गए तो सारी विश्व-वसुधा को हिलाकर रख देंगे।' परम पूज्य गुरुदेव की गद्य पर नहीं वरन् पद्य पर भी पकड़ थी स्वतंत्रता के समय में बहुत सी कविताएं लिखीं और दूसरों को प्रेरणा देकर सृजनात्मक साहित्य भी लिखवाया।

लेखनी उनके पत्रों के माध्यम से करोड़ों को बदलती चली गयी। प्रायः श्रेष्ठ लेखक, श्रेष्ठ वक्ता नहीं होते, किन्तु उनकी ओजस्वी अमृतवाणी ने लाखों का कायाकल्प कर दिया। जो उनके सम्पर्क में आया वह उन्हीं का हो गया।

तपोनिष्ठ का जन्म

पं. श्री राम शर्मा आचार्य जी का जन्म अश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् 1967 दिनांक 20 सितंबर, 1911 को आगरा जनपद के आँवलखेड़ा ग्राम में हुआ था, जो जलेसर मार्ग पर आगरा से 15 मील दूरी पर स्थित है। उनके पिता 'श्री पं. रूप किशोर शर्मा जी' आस-पास के दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे। तथा उनकी माताजी 'श्रीमती दान कुंवरि शर्मा' जो धार्मिक अध्यात्मिक एवं कर्मकांडी थीं। परमपूज्य गुरुदेव की साधना में बचपन में ही रुचि थी। छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे। छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उन्होंने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है, और वे वहीं जा रहे हैं। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी।

सेवा का व्रत

जाति-पात का कोई भेद-भाव नहीं, जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत ने ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवा कर उन्होंने घर वालों का विरोध तो मोल लिया परन्तु सेवा का व्रत नहीं छोड़ा।

एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति गुरुदेव के घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार वह गुरुदेव से बोला मेरे घर कौन कथा करेगा, मैं अछूत हूं न। नवनीत हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुंचे, और पूरे विधान से उसके यहां कथा की उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गांव उनके विरोध में था।

किशोरावस्था

किशोरावस्था में ही समाज-सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियां उन्होंने चलानी आरम्भ कर दी थीं, औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किन्तु उन्हें इनके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक कैसे

सीमित रह सकता है। बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान पत्रक बांटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, आदि विषय पर छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस छापने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने नशा जागृति का अभियान चलाया, स्वालम्बन केन्द्र स्थापित किये।

गुरुसत्ता का आगमन

पन्द्रह वर्ष की आयु में बसंत पंचमी की वेला में सन् 1926 में उनके घर की पूजा स्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आधार थी जब से महामना पं. मदन मोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ, अदृश्य छाया सूक्ष्म शरीर में। उन्होंने प्रज्वलित दीप की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके विगत कई जन्मों सम्पन्न क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषिसत्ताएं उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी संदेश दिया एवं उन्हें तीन प्रेरणाएं दी। 1. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष्य के चौबीस महापुरश्चरण, जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। 2. अखंड धृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए यज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में 'अखंड ज्योति पत्रिका' के 1938 में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार क्रांति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा। 3. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म को निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, तथा हिमालय यात्रा करना।

गुरुदेव ने अपनी गुरुसत्ता का अक्षरशः पालन किया स्वयं को जनहित-लोकहित में खपाया और 24 वर्ष तक गायत्री पुरश्चरण किये। 24 घंटे में मात्र एक बार जौ के आटे की दो रोटी छाछ के साथ खायी और जो भी वो जो गाए को खिलाए गए गोबर से प्राप्त होती थी तथा नमक का त्याग किया। जैसा खाओ अन्न वैसा बनें मन वाली कहावत चरितार्थ कर अपनी वाणी को सिद्ध बनाया वास्तव में युग निर्माण योजना, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, में पूज्य गुरुवर ने भावी-रीति-नीति का निर्धारण कर दिया है।

राष्ट्र के प्रति अगाध प्रेम- एक सच्चे राष्ट्र संत

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनमें थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने तोड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युग धर्म की महत्ता व

समय की पुकार देख सुनकर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकांड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का संकेत भी था।

1927 से 1933 तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद पैदल लंबा रास्ता पार कर वे आगरा के उस शिविर में पहुंचे जहां स्वतंत्रता का शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों व मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे, तथा जेल भी गये। जेल में निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर तथा स्वयं अंग्रेजी सीखकर लौटे। आसनसोल जेल में गुरुजी श्री जवाहर लाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरुपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मालवीय जी, देवदास गांधी जैसी हस्तियों के साथ रहे और वहां एक मूल मंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन जन साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से मुट्ठी भर अनाज बचाकर रचनात्मक प्रवृत्तियां चलाना।

इसी मंत्र के आधार पर गायत्री परिवार खड़ा हुआ, और अनेकों रचनात्मक गतिविधियां चली। स्वतंत्रता आन्दोलन के समय गुरुजी ने बहुत कार्य किया नमक तोड़ो आन्दोलन में वे गांधी जी के साथ रहे, जरारा आन्दोलन के दौरान उन्होंने झंडा नहीं छोड़ा और न ही फिरंगी सिपाहियों को पीठ दिखाकर भागे, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, परन्तु उन्होंने झंडा दांतों से पकड़ लिया था, जो बाद में बेहोश हो जाने पर उनके साथियों द्वारा काटकर निकाला गया। तभी उन्हें आजादी के मतवाले 'श्रीराम मत्त' का नाम मिला। लगाबन्दी के आंकड़ें एकत्र करने के लिए गुरुजी ने पूरे आगरा का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत आंकड़ें तत्कालीन संयुक्त प्रांत के मुख्यमंत्री श्री गोविन्द बल्लभ पंत द्वारा गांधी जी के समक्ष पेश किये गये।

बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ प्रामणिक आंकड़ें पार्लियामेंट भेजें उसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रांत के लगान माफी के आदेश पारित हुए। गुरुजी ने कभी किसी कार्य के बदले कुछ नहीं चाहा, सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर उन्हें सम्मानित किया, उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएं व पेंशन उन्होंने प्रधानमंत्री राहत कोश के नाम समर्पित कर दी, वैरागी जीवन का सच्चें राष्ट्रसंत होने का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है।

जीवन में नया दौर

1935 के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पांडिचेरी, गुरुवर ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति

निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम अहमदाबाद गये, तथा सांस्कृतिक अध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाये वह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत चलाते हुए उन्होंने पत्रकारिता में प्रवेश किया और आगरा से सैनिक समाचार पत्र निकाला जिसके कार्यवाहक सम्पादक श्रीकृष्णदत्त जी थे। 1938 की बसंत पंचमी को अखंड ज्योति पत्रिका का प्रकाशन किया जिसके पाठकों की संख्या आज लगभग 20 लाख से अधिक है और बगैर किसी विज्ञापन के निकलती थी। पत्रिका के साथ, मैं क्या हूं जैसी पुस्तकों का लेखन किया बाद में अखंड ज्योति आगरा से हटकर मथुरा से निकाली गयी आज धीयामंडी में अखंड ज्योति संस्थान है।

पहली शिष्या उनकी पत्नी

पुस्तकों का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतस्तल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। गुरुदेव का साथ उनकी पत्नी परमवंदनीया माता भगवती देवी शर्मा देती थीं। जो गुरुदेव की प्रथम शिष्या थी गुरुदेव उन्हें माताजी कहते थे और मां समान व्यवहार भी करते थे। 1953 के 108 कुंडी यज्ञ में माताजी ने अपने सारे जेवर गुरुदेव को दे दिये थे जिन्हें बेचकर यज्ञ हुआ था किसी से कोई चंदा नहीं लिया गया था। 1956 में नरमेध यज्ञ 1957 में सहस्रकुंडी यज्ञ में लाखों गायत्री साधकों ने भाग लिया और पूरे विश्व में उस समय 10 हजार गायत्री परिवार की शाखाएं स्थापित हो गयी थीं 1947 से 1971 तक गुरुदेव मथुरा में गायत्री तपोभूमि तथा अखंड ज्योति पत्रिका का प्रकाशन एवं लेखन करते रहे।

शांतिकुंज की स्थापना

1959 में दो वर्ष के लिए पत्रिका के सम्पादन की जिम्मेदारी माताजी को सौंपकर गुरुदेव हिमालय चले गये और गुरुसत्ता के निर्देश के बाद उन्हीं की प्रेरणा से 1971 में शांतिकुंज की स्थापना की। उस समय माताजी ने 24 कन्याओं के साथ गायत्री साधना की थी जिस स्थान पर शांतिकुंड है वह सप्तसरोवर है जहां कभी ऋषि विश्वामित्र ने तपस्या की थी, विश्वामित्र गायत्री के साधक हैं। उस स्थान पर कोई निर्माण संभव न था परन्तु गुरुदेव की जिद के कारण भूमि लेकर वहां शांतिकुंज का निर्माण हुआ। वहां 1926 से प्रज्वलित दीप, जिसकी उपस्थिति में गुरुदेव ने 24 गायत्री पुरश्चरण किये थे, जो 1971 में मथुरा गायत्री तपोभूमि से लाया गया, स्थापित है। मथुरा का गायत्री तपोभूमि ऋषि दुर्वासा की तपोस्थली है।

अंतिम यात्रा

अपनी जीवन अवधि के अस्सी वर्ष में से प्रारम्भिक तीस वर्ष जन्मस्थली आँवलखेड़ा, आगरा जनपद एवं नगर में एक साधक, समाज सुधारक, प्रखर स्वतंत्रता सग्रामी की तरह बीते। इस पूरी अवधि में एवं आयुष्य के अंतिम बीस वर्षों में परमवंदनीया माताजी का हर निमिष उनका साथ रहा। अन्तिम बीस वर्ष शान्तिकुंज हरिद्वार या सूक्ष्म शरीर से हिमालय में बीते। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, सिद्ध तीर्थ गायत्री तीर्थ का निर्माण एवं वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के लिए संकल्पित शोध संस्थान व समर्थक साहित्य का लेखन इसी अवधि में हुआ।

1984 से सूक्ष्मीकरण पच्चकोशी साधना में प्रवेश। 1985 में पांच वर्ष के अन्दर ही अपने सारे क्रियाकलापों को समेटने की घोषणा। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप-यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंपकर, अपने स्थूल को छोड़ने एवं सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा।

गुरुदेव ने जब मथुरा छोड़ा तो फिर दुबारा नहीं गये, वास्तव में वे वीतराग ऋषि थे, उनका उद्देश्य मानव ही नहीं उनके द्वारा प्रस्तुत आंकड़ें तत्कालीन संयुक्त प्रांत के मुख्यमंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गांधी जी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ प्रामाणिक वरन् संपूर्ण जीव-जगत की सेवा करना था। ऐसे महान संत का स्वर्गवास 2 जून, 1990 को हुआ था, गुरुदेव ने अपने स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर में जाने के संकेत सूक्ष्मीकरण की साधना के बाद ही दे दिये थे। इसलिए सूक्ष्मीकरण की साधना के बाद जो पुस्तकें गुरुदेव ने लिखी वे भविष्य का ही संपूर्ण विचार क्रांति अभियान का मैनिफैस्टो है।

साहित्य

युग निर्माण योजना व सत्संकल्प के रूप में मिशन का घोषणा पत्र 1963 में प्रकाशित हुआ। चौथी बार हिमालय यात्रा के बाद गुरुदेव ने 'ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान' की स्थापना की और हर विषय पर साहित्य लिखा जिनमें गायत्री महाविज्ञान, मरने के बाद हमारा क्या होता है? मरणोत्तर जीवन का रहस्य, आयुर्वेद का परिचय जैसी पुस्तकें मुख्य हैं। गुरुदेव ने लगभग 3000 पुस्तकें तथा 108 वाड़मय लिखें हैं जिनमें अभी 33 वाड़मय अप्रकाशित हैं जो आगामी 2 वर्षों में प्रकाशित हो जायेंगे।

पूरे विश्व में गायत्री परिवार की लगभग 24 लाख शाखाएं हैं जिनमें 24 हजार गायत्री शक्तिपीठ कार्य कर रहे हैं पिछले 3 वर्षों से स्थापित देवसंस्कृति विश्व विद्यालय

सभी फैकल्टी के साथ शिक्षा-दीक्षा के कार्य में संलग्न हैं। भविष्य में इसकी शाखाएं पूरे भारत में स्थापित होगीं।

गायत्री परिवार भारत में ही नहीं वरन् पूरे विश्व में है। अमेरिका, कनाडा, रुस, जापान, जैसे देशों में गायत्री परिजन बढ़ रहे हैं वहां और भारत में गायत्री शक्तिपीठ, प्रज्ञामंडल महिला मंडल, संस्कृति मंडल, युवा मंडल कार्य कर रहे हैं।

परमपूजनीय माता जी का देहावसान

- 1991 गायत्री जयंती को सविता शक्ति की प्रेरणा से परम वन्दनीया माताजी ने शांतिकुंज से शक्ति-साधना वर्ष की घोषणा की। अखंड जप प्रधान कार्यक्रम पूरे भारत व विश्व भर में सम्पन्न हुये। परम पूज्य गुरुदेव-परम वन्दनीया माताजी के संरक्षण व ऋषियों के सहयोग से हजारों वर्षों के बाद भारत व विश्व में 27 अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न हुये, जिनका उद्देश्य विश्व को महाविनाश से बचाना एवं 21 वीं सदी उज्जवल भविष्य की आधारशिला रखना था।
- भाद्रपद पूर्णिमा 19 सितंबर, 1994 को परम वन्दनीया माताजी भी हाड़-मांस की काया छोड़कर अखंड दीपक में समा गई।
- अखंड ज्योति, प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा, क्रमशः संयुक्त रूप में परम पूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी एवं परम वन्दनीया माता भगवती देवी शर्मा जी की सूक्ष्म चेतना के रूप में गायत्री तीर्थ शांतिकुंज रूपी काया के माध्यम से अनन्त काल तक विश्वमानस को शाश्वत मार्गदर्शन प्रदान करने का दैवीय स्रोत बन गया है।

गुरुदेव एक संपूर्ण संत

गुरुदेव के बारें सब कुछ एक स्थान पर कम शब्दों में कहना असंभव है एक वाक्य में कहें तो सूर्य को दीप दिखाना और यदि कम शब्दों में कहें तो 'कोई मसीहा आया था जिसने पृथ्वी को स्वर्ग बनाने एवं मानव को मानवता का पाठ पढ़ाने का प्रयास किया और सफल भी रहा।' ऐसे संत कभी-कभी ही पृथ्वी पर आतें हैं और जब आते हैं तो संपूर्ण मानव व जीव-जगत को जीवन जीनें की कला सिखाते हैं। असंभव को संभव कर दिखातें हैं क्योंकि यह कार्य केवल महाकाल का ही है और गुरुदेव महाकाल के अवतार थे।

गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी की अभिनव पांच स्थापनाएं

युगद्रष्टा के स्तर की अवतारी सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने अपने अस्सी वर्ष के जीवनकाल में जितना भी कुछ किया, उसकी मिसाल कहीं देखने को नहीं मिली। करोड़ों व्यक्तियों के मनों का निर्माण, उनके सोचने के तरीके में बदलाव एवं युगनिर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी, जो लाखों वर्षों में कभी-कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग आता है तब ईंट-गारे-चूने-सीमेंट से बने भवनों से पहले उनकी स्नेह संवेदना से सिक्त हुए, ममत्व में स्नानकर उनके अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिनने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। उन्हीं संत संकल्पों के बल जन समुदाय के सहयोग और अपनी तपस्या के फल से उन्होंने पांच महत्वपूर्ण स्थापनाएं की जो निम्न हैं।

पांच स्थापनाएं इस प्रकार हैं

1. युगतीर्थ आंवलखेड़ा, 2. अखंड ज्योति संस्थान घीयामंडी, मथुरा, 3. गायत्री तपोभूमि, मथुरा, 4. शांतिकुंज, गायत्री तीर्थ, सप्तसरोवर, हरिद्वार तथा 5. ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान, सप्तसरोवर, हरिद्वार।

युगतीर्थ आंवलखेड़ा का नाम सबसे पहले इसलिए लिखा कि यहां पर वह युगपुरुष संवत् 1968 की आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तिथि के दिन, ब्रह्ममुहूर्त में, जो अंग्रेजी तारीख से 20 सितंबर, 1911 के दिन आती थी, में जन्मा। एक श्रीमंत ब्राह्मण परिवार में, जहां धन की कोई कमी नहीं थी, पूरा परिवार संस्कारों से अनुप्राणित, पिता भागवत के प्रकांड पंडित, बहुत बड़ी जागीर के मालिक। आज जहां पर पूज्यवर की स्मृति में एक विराट स्तंभ की, एक चबूतरे की तथा उनके कर्तृत्व रूपी शिलालेखों की स्थापना हुई है- वहां पूज्यवर ने शरीर से जन्म लिया था। समीप बनी दो कोठरियां जो कालप्रवाह के क्रम में गिर-सी गयी थीं, जीर्णोद्धार कर वैसी ही निर्मित कर दी गयी हैं- जैसी उनके समय में थीं। जन्मभूमि का कण-कण उस दैवीसत्ता की चेतना से अनुप्राणित है। उनके हाथ से खोदा कुआं, जिसे पूरे गांव का एकमात्र मीठे जल वाला कुआं माना गया- वह अभी भी है, उनके हाथ से रोपा नीम का पेड़ एवं वह बैठक जहां स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सब बैठकर चर्चा करते थे, आज भी उन दिनों की याद दिलाते हैं। पास में ही दो कोठरियां है, जिनमें एक कक्ष में वह स्थान है जहां दीपक के प्रकाश में से सूक्ष्मशरीरधारी गुरुसत्ता प्रकट हुई थी तथा जिसने उनके जीवन की

दिशाधारा का 1926 के बाद के क्रम का निर्धारण कर दिया था। यह सब देखकर मस्तिष्क-पटल पर वह दृश्य उभर आता था, जिसे गुरुसत्ता ने कभी देखा था व जो गायत्री परिवार की स्थापना का मूल आधार बना। आंवलखेड़ा में ही उनकी माताजी की स्मृति में स्थापित माता दानकुंवरि इंटर कॉलेज है जो उनके द्वारा दान दी गयी जमीन में प्रदत्त धनराशि द्वारा विनिर्मित है। 1963 से चल रहे इस इंटर कालेज से कई मेधावी छात्र निकलकर आत्म-निर्भर बने हैं व उच्च पदों पर पहुंचे हैं।

1979-80 में गायत्री शक्तिपीठ एवं कन्या इंटर कालेज की स्थापना का ताना-बाना बुना जाने लगा, जो एक विशाल शक्तिपीठ तथा आसपास के दो सौ ग्रामों की बालिकाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था करने वाले, उन्हें सुशिक्षित, संस्कारवान, आत्मावलंबी बनाने वाले कन्या महाविद्यालय का अब रूप ले चुका है। प्रथम पूर्णाहुति हेतु इसी भूमि को जो शक्तिपीठ-जन्मभूमि-ग्रामीण क्षेत्र के चारों ओर है, इसीलिए चुना गया कि यहां से उद्भूत प्राणऊर्जा से यहां आने वाला हर संकल्पित साधक अनुप्राणित होकर जाएं व राष्ट्र के नव-निर्माण की सांस्कृतिक व भावनात्मक क्रांति की पृष्ठभूमि रख सके। यहां पूज्यवर 1936-37 तक ही रहे, कुछ दिन आगरा रहकर 1940-41 में मथुरा चले गये, जहां दो-तीन मकान बदलने के बाद वर्तमान मकान किराये पर लिया, जिसे आज अखंड-ज्योति संस्थान कहते हैं।

अखंड ज्योति संस्थान घीयामंडी, मथुरा में स्थित है। परमपूज्य गुरुदेव सीमित साधनों में अपने अखंड दीपक के साथ यहां रहने लगे एवं यहीं से क्रमशः आत्मीयता विस्तार की, जन-जन तक अपने क्रांतिकारी चिंतन के विस्तार की प्रक्रिया अखंड ज्योति पत्रिका, जो आगरा से ही आरम्भ कर दी गयी थी, की गायत्री चर्चा स्तम्भ व अन्यान्य लेखों की पंक्तियों के माध्यम से संपन्न होने लगी। व्यक्तिगत पत्रों द्वारा उनके अंतस्तल को स्पर्श कर एक महान स्थापना का बीजारोपण होने लगा। यही पर नगिनत दुखी, तनावग्रसित व्यक्तियों ने आकर उनके स्पर्श से नये प्राण पाये तथा उनके व परमवंदनीया माताजी के हाथों से भोजन-प्रसाद पाकर उनके अपने होते चले गये। हाथ से बने कागज पर छोटी ट्रेडिल मशीनों द्वारा यहीं पर अखंड ज्योति पत्रिका छापी जाती थी व छोटी-छोटी किताबों द्वारा लागत मूल्य पर उसे निकालने योग्य खर्च निकलता था। बगल की एक छोटी-सी कोठरी में जहां अखंड दीपक जलता था, आज पूजाघर विनिर्मित है। पूरी बिल्डिंग को खरीद कर उनके सुपुत्र में एक नया आकार व मजबूत आधार दे दिया है किंतु यह कोठरी अंदर से वैसी ही रखी गई है जैसी पूज्यवर के समय में 1942-43 में रही होगी। तब से लेकर आगामी 30 वर्ष का साधना काल-लेखन काल पूज्यवर का इसी घीयामंडी के भवन में छोटी-छोटी दो कोठरियों में गहन तपश्चर्या

के साथ बीता। तपोभूमि निर्माण की पृष्ठभूमि यहीं बनीं, 1986 में सहस्र कुंडी यज्ञ की आधारशिला यहीं रखी गयी, यहीं सारी योजना बनी एवं विधिवत गायत्री परिवार बनता चला गया। गायत्री महाविज्ञान के तीनों खंड, युगनिर्माण परक साहित्य, आर्ष-ग्रंथों के भाष्य को अंतिम आकार देने का कार्य यहीं सम्पन्न हुआ। जन सम्मेलनों, छोटे-बड़े यज्ञों एवं 1008 कुंडी पांच विराट यज्ञों में पूज्यवर यहीं से गये एवं विदाई सम्मेलन की रूप-रेखा बनाकर स्थायी रूप से इस घर से 1971 की 20 जून को विदा लेकर चले गये। इस संस्थान के कण-कण में जहां आज 10 लाख से अधिक संख्या में हिन्दी सहित सभी भाषाओं में अखंड ज्योति पत्रिका के प्रकाशन, विस्तार, डिस्पैच आदि का एक विराट तंत्र स्थापित है, परमपूज्य गुरुदेव की चेतना संव्याप्त अनुभव की जा सकती है। भले ही बाहिरंग का कलेवर बदल गया हो, अंदर प्रवेश करते ही परमपूज्य गुरुदेव व परमवंदनीया माताजी की सतत विद्यमान प्राणचेतना के स्पन्दन यहां विद्यमान है, यह प्रत्यक्षत देखा जा सकता है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा को परमपूज्य गुरुदेव की चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर की गयी स्थापना माना जा सकता है, जिसे विनिर्मित ही गायत्री परिवार रूपी संगठन के विस्तार के लिए किया गया था। इसकी स्थापना से पूर्व चौबीस सौ तीर्थों के जल व रज को संग्रहीत करके यहां उनका पूजन किया गया, एक छोटी किंतु भव्य यज्ञशाला में अखंड अग्नि स्थापित की गयी तथा एक गायत्री महाशक्ति का मन्दिर विनिर्मित किया गया। चौबीस सौ करोड़ गायत्री मंत्रों का लेखन जो श्रद्धापूर्वक नैष्ठिक साधकों द्वारा किया गया था, यहां पर संरक्षित कर रखा गया है। पूज्य गुरुदेव की साधनास्थली व प्रातःकाल की लेखनी की साधना की कोठरी यदि अखंड ज्योति संस्थान में थी तो उनकी जन-जन से मिलने, साधनाओं द्वारा मार्गदर्शन देने की कर्म-भूमि गायत्री तपोभूमि थी। यहीं पर 108 कुंडी गायत्री महायज्ञ में 1953 में पहली बार पूज्यवर ने साधकों को मंत्रदीक्षा दी। यहीं पर 1946 में नरमेध यज्ञ तथा 1986 में विराट सहस्रकुंडी पज्ञायोजन संपन्न हुए। श्रेष्ठ नररत्नों का चयन कर गायत्री परिवार को विनिर्मित करने का कार्य यही व्यक्तिगत मार्गदर्शन द्वारा सम्पन्न हुआ। हिमालय प्रवास से लौटकर पूज्य आचार्यश्री ने युगनिर्माण योजना के शत-सूत्री कार्यक्रम एवं सत्संकल्प की तथा युगनिर्माण विद्यालय के एक स्वावलम्बन प्रधान शिक्षा देने वाले तंत्र के आरंभ होने की घोषणा की। यह विधिवत 1964 से आरंभ किया गया एवं अभी भी सफलतापूर्वक चल रहा है। जिस कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव की 1971 की विदाई के बाद यहां हो गया है किन्तु, कण-कण में उनकी प्राणचेतना का दर्शन किया जा सकता है। विराट प्रज्ञानगर, युग निर्माण विद्यालय, साहित्य की छपाई हेतु बड़ी-बड़ी ऑफसेट

मशीनें तथा युगनिर्माण साहित्य जो पूज्यवर ने जीवन भर लिखा, उसका वितरण-विस्तार तंत्र यहां पर देखा जा सकता है।

शांतिकुंज, हरिद्वार ऋषि परम्परा के बीजारोपण केन्द्र के रूप में 1971 में स्थापित किया गया था, जब परमपूज्य गुरुदेव मथुरा स्थायी रूप से छोड़कर परमवंदनीया माताजी को अखंड ज्योति दीपक की रखवाली हेतु यहां छोड़कर हिमालय में चले गये। गुरुसत्ता के निर्देश पर वे पुनः एक वर्ष बाद लौटे व तब शांतिकुंज को उनने एक बड़ा विराट रूप देने, सभी ऋषिगणों की मूलभूत स्थापनाओं को यहां साकार बनाने का निश्चय किया। इससे पूर्व परमवंदनीया माताजी ने 24 कुमारी कन्याओं के साथ अखंड दीपक के समक्ष 240 करोड़ गायत्री मंत्र का अखंड अनुष्ठान आरंभ कर दिया था। पूज्यवर ने प्राण-प्रत्यावर्तन सत्र, जीवन-साधना सत्र, आदि के माध्यम से विभिन्न क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने वाले कार्यकर्त्ता यहीं गढ़े। यह सत्र श्रृंखला साधना, संजीवनी साधना सूत्रों के रूप में तब से ही 9 दिवसीय सत्रों व एक माह के युगशिल्पी प्रशिक्षण के रूप में चल रही हैं, अभी भी अनवरत उसमें आने वालों का तांता लगा रहता है। पहले से ही सब यानी बुकिंग इसमें करा लेते हैं।

शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ का रूप देकर सप्तऋषियों की मूर्तियों की स्थापना 1985-78 में की गयी, एक देवात्मा हिमालय विनिर्मित किया गया एवं यहां सभी संस्कारों को संपन्न करते रहने का क्रम बन गया जो चल रहा है। नित्य यहां दीक्षा, पुंसवन, नामकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध-तर्पण आदि संस्कार सम्पन्न होते हैं। इस बीच परमवंदनीया माताजी ने जागरण सत्र श्रृंखलों सम्पन्न करना आरंभ रखा। कन्याओं को प्रशिक्षित कर पूरे भारत में जीप टोलियों में भेजा गया। इनके माध्यम से तीन वर्ष तक भारत को कोने-कोने में तुमुलनाद होता रहा।

शांतिकुंज का गायत्री नगर, जो आज एक विराट स्थापना के रूप में, एक एकेडमी के रूप में नजर आता है व जिसमें एक बार में एक साथ दस हजार व्यक्ति एक साथ ठहर सकते हैं, 1971-72 में बनना आरम्भ हुआ। विलक्षण, दुर्लभ जड़ी-बूटियों के पौधे यहां लगाए गए तथा प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा रूपी धर्मस्थली का पूज्यवर ने अपने सामने निर्माण कराया। यहीं उनके निर्देशानुसार उनके शरीर छोड़ने पर दोनों दाताओं को अग्नि समर्पित की जानी थी। स्वावलम्बन विद्यालय से लेकर एक विशाल चौके का निर्माण एवं गायत्री विद्यापीठ से लेकर भारत के सभी सरकारी विभागों के प्रशिक्षण के तंत्र की स्थापना यहां पर की गयी है एवं यह एक जीता-जागता तीर्थ अब बन गया है, यहां पर उज्जवल भविष्य की पूर्व झलक देखी जा सकती है। कम्प्यूटरों से सज्जित विशाल कार्यालय से लेकर

पत्राचार विद्यालय जहां नित्य हजारों पत्रों के द्वारा पूरे तंत्र का मार्गदर्शन किया जाता है, यहां की विशेषता है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पांचवीं स्थापना है, जहां पर विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का अभिनव शोधकार्य चल रहा है। इसे 1971 की गायत्री जयंती पर आरम्भ किया गया था। वर्तमान शांतिकुंज गायत्री तीर्थ से आधा किलोमीटर दूरी पर गंगातट पर स्थित यह संस्थान अपनी आकर्षक बनावट के कारण सहज ही सबके मनों को मोहकर आमंत्रित करता रहता है। इसमें तीन मंजिलों में प्रथम तल पर एक विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञशाला विनिर्मित है तथा चौबीस कक्षों में गायत्री महाशक्ति की चौबीस मूर्तियां बीजमंत्रों व उनकी फलश्रुतियों सहित स्थापित हैं। द्वितीय तल पर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है, जहां ऐसे उपकरण स्थापित हैं, जो यह जांच-पड़ताल करते हैं कि साधना से पूर्व व पश्चात् यज्ञादि मंत्रोच्चारण के पूर्व व पश्चात् क्या-क्या परिवर्तन शरीर-मन की गतिविधियों व रक्त आदि संघटकों में देखने में आये। इनके आधार पर साधकों को साधना संबंधी परामर्श दिया जाता है। यहां पर वनौषधियों का विश्लेषण भी किया जाता है तथा यज्ञ ऊर्जा-मंत्र शक्ति का क्या प्रभाव साधक की मस्तिष्कीय तरंगों, जैव विद्युत आदि पर पड़ा, यह देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी यहां किये जाते हैं। तृतीय तल पर एक विशाल ग्रंथागार स्थापित है, जहां विश्वभर के शोधप्रबंध वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर एकत्रित किये गये हैं। यहां प्रायः 45000 से अधिक ग्रंथ हैं, जिनमें कोई पुरातन पाण्डुलिपियां हैं। वह अपने आप में एक अनूठा संकलन है जो और कहीं एक साथ देखने को नहीं मिलता।

परमपूज्य गुरुदेव की उपरोक्त पांच स्थापनाएं किसी को भी यह परिचय दे सकती हैं कि किस विक्षण द्रष्टास्तर की वह महासत्ता थी जो हम सबके बीच अपना लीलासंदोह रचकर चली गयी। प्रत्यक्ष तो यह केन्द्रीय पांच स्थापनाएं नजर आती हैं किन्तु 4700 से अधिक अपने भवनों वाले प्रज्ञासंस्थान 40000 से अधिक प्रज्ञामण्डल व स्वाध्यायमंडल तथा अनगिनत गायत्री परिवार की शाखाएं यदि इनमें जाएं तो इनका मूल्य राशि में आंका नहीं जा सकता। यही वह सब है जो उस महापुरुष को एक अवतारी स्तर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करता है व जिसके कर्तृत्व पर श्रद्धावनत होने का मन करता है।

विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों को यहां परीक्षित किया गया है एवं 90 हजार से अधिक प्रयोगों द्वारा इस प्रयोगशाला में प्रमाण एकत्र किये गये हैं, जो बताते हैं कि साधना-उपचार, योग-व्यायाम, वनौषधि चिकित्सा, मंत्र विज्ञान, संगीत

चिकित्सा एवं यज्ञोपचार के शास्त्रोक्त प्रयोग विज्ञान सम्मत हैं। करोड़ों रुपयों की लागत से कम्प्यूटराइज्ड सिस्टम पर मन मस्तिष्क व शरीर-रसायनों व जैव विद्युत का परीक्षण करने वाले ढेरों उपकरण यहां लगाये गये हैं। यज्ञ विज्ञान पर प्रयोग करने वाले यहां विश्व भर की एकमात्र पहली व अनूठी प्रयोगशाला है।

आयुर्वेद पर विज्ञान सम्मत अनुसंधान यहां की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस प्रयोगशाला में समय-समय पर सत्र में भाग ले रहे साधकों को निर्धारणनुसार कल्प सेवन कराया जाता है। निष्णात चिकित्सक वनौषधियों के विभिन्न रूपों में प्रयोग पर शोध किया जा रहा है। कैसे स्वस्थ हुआ जाये व पाश्चात्य औषधियों के दुष्प्रभावों से कैसे बचा जाय, इसका शिक्षण एवं यहां के प्रयोगों के निष्कर्षों के आधार पर निशुल्क परामर्श भी दिया जाता है। अनेक प्रकार की जड़ीबूटियों के चूर्ण तथा चाय का विकल्प प्रज्ञा पेय यहां लागत मूल्य पर उपलब्ध है। ■

8

महर्षि रमण

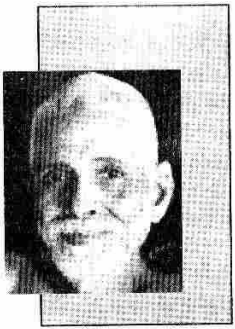

भारत की धरती हमेशा से ऋषि मुनियों, संतों एवं फकीरों की रही है और यह वही पावन-पवित्र धरा है जहां भगवान भी जन्म लेने को लालायित रहते हैं और जन्म लेकर अपने आप को धन्य एवं गौरवांवित महसूस करते हैं तभी तो भगवान श्रीराम और श्रीकृष्ण ने इस भारतभूमि पर जन्म लेकर अपनी लीलाएं की। उसके बाद अब तक न जाने कितने साधु-संतों ने जन्म लेकर अपना जीवन धन्य किया। ऐसे ही एक ऋषि थे महर्षि रमण, जिनका जन्म सन् 1879 में तमिलनाडु के मदुरै से 30 मील दूर एक छोटे से गांव 'तिरूचल्ली' में हुआ था। इस गांव में एक छोटा सा मंदिर था, इनके माता-पिता का नाम 'सुंदरम अय्यर' तथा 'अलगम्माल' था। वे एक आदर्श दम्पति थे। दोनों भगवान के बड़े भक्त थे। इनके ऊपर भगवान की असीम कृपा थी।

बचपन की रोचक कहानियां

वेंकटरमण अपने तीन भाइयों में दूसरे नंबर पर थे। उनका जन्म 30 दिसंबर सन् 1879 को हुआ था। इनका जन्म गांव में लगने वाला प्रसिद्ध मेला जत्रा के दिन हुआ था। वेंकटरमण के प्रारंभिक जीवन की कोई घटना उल्लेखनीय नहीं है। वह अन्य बच्चों के समान ही थे। उनकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा गांव में ही हुई थी। जब वे 12 वर्ष के थे, तब उनके पिता श्री सुंदरम अय्यर का देहांत हो गया। पति की मृत्यु के बाद उनकी मां अलगम्माल गांव छोड़ने को विवश हो गई और बच्चों को लेकर वे मदुरै चली गईं, जहां उनके देवर सुब्बाराव अय्यर रहते थे। उन्होंने वेंकटरमण के मदुरै के मिशन उच्च विद्यालय में नामांकन करवा दिया, जहां वह पढ़ाई करने जाने लगे, परंतु उनका मन पढ़ने-लिखने में नहीं लगता था। वे पढ़ाई-लिखाई में बड़े आलसी थे। लेकिन उनकी मां

उन्हें तैयार कर प्रतिदिन स्कूल भेजती थीं। बालक वेंकटरमण का शरीर तगड़ा तथा चमकता हुआ ओजस्वी चेहरा पूर्णरूपेण स्वस्थ था। उनके सारे सहपाठी रमण के डील-डौल शरीर से डरे रहते थे। वेंकटरमण की गहरी नींद सब लोगों के लिए कौतूहल और आश्चर्य की बात थी। उसकी नींद इतनी गहरी होती थी कि उन्हें जगाने की सारी कोशिशें बेकार जाती थी, चाहे कोई उसे पीटे, एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर ले जाय या फिर कहीं जमीन में लिटा दे, पर उनकी नींद नहीं खुलती। इसलिए उनके सहपाठी उन्हें कुंभकर्ण कहकर चिढ़ाते थे।

लेकिन, तब शायद किसी को यह नहीं मालूम था कि यही आलसी बालक आगे चलकर एक दिन संन्यासी बन जाएगा। हांलाकि, उनके जीवन में कई महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटी जो संयोग ही था। यह संयोग उनके जीवन में कैसे आए, उसकी भी चर्चाएं रोचक है।

बालमन में अरुणाचल देखने की प्रबल इच्छा

16 वर्ष की अवस्था में वेंकटरमण के घर एक अतिथि आये थे जोकि अरुणाचल के रहने वाले थे। 'अरुणाचल' शब्द ने बालक मन को बहुत प्रभावित किया, रमण के ऊपर जादुई असर डाला। उनके मन में अरुणाचल के विषय में अधिक जिज्ञासाएं पैदा हो गईं। बालक वेंकटरमण अपनी जिज्ञासा को रोक न सका। उसने अतिथि से पूछा क्या आप अरुणाचल से आए हैं? अरुणाचल कहां है? अतिथि बालक के इस सवाल से बहुत प्रभावित हुआ। उन्होंने बताया हां! मैं अरुणाचल से आ रहा हूं। तुमने तिरूवन्नमलाई का नाम सुना है? तिरूवन्नमलाई ही अरुणाचल है। बालक वेंकटरमण के मन को अतिथि ने आकृष्ट किया। उसने मन में ठान लिया है कि वह एक बार अरुणाचल अवश्य जायेगा। वेंकटरमण ने कुलोत्तुंग के पेरिय पुराण की तमिल कविताओं में उसने एक कविता पढ़ी थी, जिसमें शैव संतों का वर्णन किया गया है। शैव संतों की कथाओं ने बालक के दिमाग पर गहरा प्रभाव डाला। उन संतों के दृष्टांतों ने बालक के दिल और दिमाग पर गहरा जादुई प्रभाव डाला। बालक के हृदय में तीव्र लालसा पैदा हुई और वह मन ही मन सोचने लगा क्या मेरा सपना कभी सच होगा, मैं उन संतों के सामान बन सकूंगा? उसी दिन बालक ने एकांत में, ईश्वर की मौन साधना आरंभ कर दी।

ज्ञान का बोध

सन् 1896, जब वेंकटरमण केवल 17 वर्ष के थे और एक दिन अपने चाचा के घर की पहली मंजिल के एक कमरे में गहरे विचारों में डूबे हुए थे, तभी एकाएक उनके हृदय में मृत्यु भय का विचार आया और वे बेसुध हो गए, उन्हें लगा कि वे मर गए।

मृत्यु के विचार उन्हें दुर्बल न कर दे यह सोचकर इन विचारों को रोकने के लिए उन्होंने आत्मचिंतन प्रारंभ किया। उन्होंने मन ही मन कहा मुझे क्या करना चाहिए। अब मृत्यु समीप आ रही है। मैं मर रहा हूं। मृत्यु क्या है ? क्या यह शरीर नष्ट हो जाएगा? ऐसा सोच कर तब उन्होंने पूर्णरूप से अपनी आंखों को बंद कर लिया। मुर्दे के समान जमीन पर लेट गए और चिंतन-मनन आरंभ कर दिया। अब मेरा शरीर मर चुका है, शरीर निर्जीव हो गया है। मेरे सगे-संबंधी इस निर्जीव शरीर को श्मशान में ले जाएंगे। और चिता में रखकर जला देंगे। परंतु, क्या इसी शरीर के साथ मैं मर गया? क्या मैं अपना नाम जानता हूं? मैं अपने माता-पिता, चाचा, भाई, मित्रों तथा अन्य परिचितों को स्मरण कर सकता हूं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मुझे अपनी वैयक्तिकता का ज्ञान अब भी है। इस प्रकार मेरे शरीर के अंदर, जो 'मैं' है, वह शरीर से परे है। 'मैं' ही आत्मा है तथा आत्मा चिरस्थायी व अनश्वर है। इस प्रकार बिजली की तरह यह अनुभूति वेंकटरमण के दिमाग में कौंध गई।

घर छोड़ने का निर्णय

विलक्षण अनुभूति प्राप्त होने के छः सप्ताह बाद 29 अगस्त 1896 का वह दिन जब अंग्रेजी अध्यापक के कहने पर कि व्याकरण की किताब से तीन बार गद्यांश लिख कर लाओ, तब वेंकटरण ने शिक्षक के आदेशानुसार दो बार लिखे और तीसरी बार लिखने के लिए सोच ही रहे थे कि एकाएक हाथ रुक गए। वह सोचने लगे कि वह क्या कर रहे हैं? गद्यांश को नकल करने से क्या लाभ? यह कार्य तो उद्देश्यहीन और निरर्थक है। इन विचारों के साथ ही उन्होंने पुस्तक और कलम फेंक दी और ईश्वर के ध्यान में डूब गये। बालक के इस विलक्षण व्यवहार को देखकर अध्यापक ने अपना सिर पीट लिया। इस विचित्र विद्यार्थी को कैसे सुधारें? तब तक वेंकटरमण अपने किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो चिंतन-मनन में खो गए। वेंकटरमण का तो सारा ध्यान अब अरुणाचल में लगा था पर वह उधेड़बुन में पड़ थे कि यदि वह अपना विचार घरवालों को बताते हैं तो घरवाले उन्हें घर से जाने नहीं देंगे, इसलिए चुपचाप भाग जाने में ही फायदा है। घर छोड़ते वक्त, उन्होंने अपने नाम से एक पत्र लिखकर छोड़ दिया था। जिसमें लिखा था मैं परमपिता 'ईश्वर' की खोज में जा रहा हूं। आप मेरे संबंध में किसी प्रकार की चिंता न करें। मुझे ढूंढ़ने का प्रयत्न भी नहीं करें। मैंने कालेज की फीस नहीं भरी है और उन रुपयों में से मैंने तीन रुपए इस पत्र के साथ रख दिए हैं। वेंकटरमण दोपहर के बाद घर से सीधे रेलवे स्टेशन गए। स्टेशन पहुंचने में काफी समय लगा। सौभाग्य से उस दिन गाड़ी देर से आई, इसलिए उस दिन वे गाड़ी पकड़ सके, अन्यथा उस दिन की यात्रा

स्थगित करनी पड़ती। दूसरे दिन, बहुत तड़के वे विल्लुपुरम स्टेशन पहुंचे। पैसे न होने के कारण वहां से उन्होंने तिरुवन्नमलाई तक पैदल जाने का संकल्प किया। उनके पास इतने कम पैसे थे कि रेल द्वारा केवल मांम्बलपट्टु तक ही जा सकते थे इसलिए विवश होकर उन्होंने मांम्बलपट्टु तक का टिकट खरीदा और वहां तक रेल यात्रा की। मांम्बलपट्टु पहुंचकर वे रेल से उतर गए। अब उनके पास फूटी कौड़ी भी नहीं थी। भूखे-प्यासे पैदल चलते रहे और शाम तक दस मील की यात्रा तय कर ली। लम्बी यात्रा के कारण वेंकटरमण थककर चूर हो गए। शाम तक किसी तरह वे अरायिणीनल्लूर नामक गांव तक ही जा सके। उस गांव में एक शिव मंदिर था। वे उस शिव मंदिर में गए और वहां ध्यान में डुब गए। वहां उन्हें एक अलौकिक ज्ञान प्रभा के दर्शन हुए।

समाधि में लीन बालक को जगाया

मंदिर के पुजारी ने देखा कि एक बालक ध्यानमग्न है। वह मंदिर के द्वार कैसे बंद करे यह सोच कर वह धर्मसंकट में पड़ गया कि अब वह क्या करें? उसने कुछ सोचा और बालक की समाधि भंग की, उसने बालक को झकझोर कर समाधि से जगाया। बालक की समाधि भंग हो गई और उसने पुजारी को कौतूहल भरी नजरों से देखा। पुजारी ने बताया कि उसे यहां से तीन मील दूर दूसरे मंदिर में जाना है, इसलिए दरवाजे बंद करने हैं वेंकटरमण भी पुजारी के साथ हो लिए और उसके साथ किल्लूर के एक मंदिर में पहुंच गये और वह उस मंदिर में भी ध्यानस्थ हो गये। पूजा पाठ समाप्त करने के बाद, पुजारी ने फिर उनकी समाधि भंग की। और पुजारी ने उन्हें गांव के शास्त्री जी के घर पहुंचा दिया ताकि बालक को मंदिर में रात बितानी न पड़े।

वेंकटरमण जैसे ही शास्त्री जी के घर पहुंचे, बेहोश होकर गिर पड़े। कुछ मिनटों के बाद उन्हें होश आया। आस-पास के लोग उन्हें कौतूहल और विस्मय से देख रहे थे। उन्होंने एक-दो घूंट पानी पीया। पानी पीने से उन्हें कुछ शक्ति मिली। शास्त्री जी ने बड़े प्यार से उन्हें भोजन खिलाया। भोजन करने के पश्चात् वेंकटरमण सो गये।

आगे की यात्रा

वेंकटरमण को अपनी यात्रा आगे जारी रखनी थी। सो, अपने कान की सोने की बालियों को उतारकर उन्होंने सुनार को दे दिया और उनसे चार रुपये देने के लिए निवेदन किया। सुनार ने उन बालियों का ध्यान से परीक्षण किया और अनुमान लगाया कि उनका मूल्य बीस रुपये से कम न होगा। उसने वेंकटरमण को चार रुपये दे दिए तथा एक कागज पर अपना पता भी लिखकर दिया। उसने वेंकटरमण से कहा तुम किसी भी

समय आकर अपनी बालियां ले जा सकते हो। वेंकटरमण चार रुपये पाकर बहुत प्रसन्न हुए और आगे की यात्रा के लिए चल पड़े। जिस कागज पर भागवतर ने अपना पता लिख कर दिया था, उस कागज को फाड़कर उन्होंने हवा में उड़ा दिया। बालियों को फिर से लेने का उनका कोई इरादा नहीं था।

संन्यास और साधनारत होना

दूसरे दिन, वेंकटरमण तिरूवन्नमलाई पहुंच गए। जहां, उनको प्रसन्नता का कोई ठिकाना न रहा। वे आनंद से अरुणाचलेश्वर मंदिर की ओर दौड़े। उस समय मंदिर के द्वार खुले हुए थे, मंदिर में कोई न था। वेंकटरमण का हृदय प्रसन्नता के मारे तेजी से धड़क रहा था। अब, वेंकटरमण भगवान अरुणाचलेश्वर के सम्मुख थे।

इस तरह वेंकटरमण की लम्बी यात्रा समाप्त हुई । अब जहाज बंदरगाह पर सुरक्षित पहुंच चुका था। अपनी यात्रा को विराम देते हुए वेंकटरमण ने संन्यास ले लिया। अब वे एक गहरे विचार में डूब गए यह शरीर नश्वर है, फिर शरीर के लिए इतना आडम्बर क्यों? इतनी भाग-दौड़ क्यों? इसलिए उन्होंने स्नान तक करना बंद कर दिया। दिन-रात साधना में लगे रहते मंदिर ही अब उनकी दुनिया बन गई थी। यहां तक की मंदिर से वह बाहर भी नहीं निकलते थे।

तरुण संन्यासी वेंकटरमण की कठोर साधना ने शीघ्र ही लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। अब श्रद्धालु लोगों ने उनकी देखभाल का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। परंतु, वेंकटरमण सबसे निर्लिप्त रहते थे। वह किसी से बातचीत तक भी नहीं करते थे। किसी से बातचीत न करने का कारण उनका मौन-व्रत नहीं था। उन्होंने कभी मौन-व्रत रखा भी नहीं था, पर असली बात यह थी कि उनकी किसी से बातचीत करने की इच्छा ही नहीं होती थी। जितना आवश्यक था, वह उतना ही बोलते थे। अधिक बातचीत करना उन्हें पसंद नहीं था।

साधना में लीन

धीरे-धीरे समय बीतते गया, इस तरह अभी छः महीने बीते होंगे कि थंबी रंगास्वामी नामक एक श्रद्धालु ने उन्हें अपने यहां ठहरने का निमंत्रण दिया। वेंकटरमण ने उनके निमंत्रण को सहर्ष स्वीकार किया। रंगास्वामी के पास एक बहुत सुंदर सा बाग था । रंगास्वामी ने इसका नाम वृंदावन रखा था। उसने वृंदावन में ही वेंकटरमण के रहने और साधना करने की सारी व्यवस्था कर दी। उस रमणीय तथा एकांत स्थान में वेंकटरमण की साधना निर्विघ्न रूप से चलने लगी। वहां उन्हें किसी प्रकार की परेशानी

नहीं थी। वहां वे ईश्वर के गंभीर चिंतन में डूब गए और अपना पूरा ध्यान ईश्वर में केंद्रित कर लिया। कठोर साधना के फलस्वरूप उन्हें नए ज्ञान का प्रकाश मिला। इस नए ज्ञान ने उन्हें और भी जिज्ञासु बना दिया। अब अनेक प्रश्न उनके मस्तिष्क को अशांत करने लगे, जैसे ईश्वर क्या है? आत्मा क्या है? आत्मा तथा परमात्मा का क्या संबंध है? देहांत के बाद आत्मा का क्या होता है? क्या शरीर की तरह आत्मा भी नश्वर है? या आत्मा अमर है। समाधि अवस्था में उन्हें इन सारे प्रश्नों के उत्तर मिल गए।

वेंकटरमण से बने महर्षि रमण

वेंकटरमण ने अपनी समाधि भंग की। उन्हें शुद्ध ज्ञान का साक्षात्कार हो गया और ज्ञान के प्रकाश के कारण उनका संदेह नष्ट हो गया। वह साक्षात् ज्ञानस्वरूप हो गए। अब उन्होंने संकल्प किया कि वे अपनी एकांत साधना छोड़कर जन-कल्याण का कार्य करेंगे। जनता के दुख दूर करने का प्रयत्न करेंगे और उनकी समस्याओं का समाधान करेंगे। उनका नाम चारों ओर दूर-दूर तक फैल गया, दर्शनार्थियों की भीड़ दिनोंदिन बढ़ने लगी। अरुणाचल मंदिर में आने वाले तीर्थयात्री अवश्य उनका दर्शन करने आते और अपनी श्रद्धा व्यक्त करते। थंबी रंगास्वामी के घर के समीप एक आम्र-कुंज था। अब रमण महर्षि ने उसमें निवास करने का निश्चय किया।

वेंकटरमण के चाचा का नाम 'नेल्लिअप्पा अय्यर' था। उन्हें किसी तरह यह खबर मिल गई कि वेंकटरमण ने तपस्या की है, और वह सिद्ध संन्यासी हो गया है। वेंकटरमण की मां ने नेल्लिअप्पा अय्यर को अरुणाचल भेजा कि वे वेंकटरमण को घर ले आएं। नेल्लिअप्पा अय्यर वेंकटरमण को लेने अरुणाचल पहुंच गए। पर वेंकटरमण अपने निश्चय से टस से मस नहीं हुए। वे निराश होकर भारी मन से घर लौट गए और सारी बातें अलगम्माल को बताईं।

पुत्र से घर लौटने का अनुरोध

अलगम्माल अपने पुत्र से मिलने स्वयं तिरूवन्नमलाई गई, उनके साथ उनका बड़ा पुत्र भी वहां गया। मां को देखते ही वेंकटरमण उन्हें पहचान गए, पर मां से उन्होंने कुशलक्षेम तक भी नहीं पूछा। वे एक शब्द भी नहीं बोले। मां बहुत रोयी, पर वे अविचलित रहे। एक तीर्थयात्री मां का करुणा-क्रंदन तथा पुत्र की दृढ़ता व ध्येयनिद्रा ध्यान से देख रहा था, उसे मां पर बहुत दया आई। उसने वेंकटरमण से निवेदन किया कि मां जी से भले ही बात न करें, पर कागज में लिखकर आप कुछ बता तो सकते हैं। वेंकटरमण ने उस तीर्थयात्री की बात मान ली। उन्होंने कागज में निम्नलिखित वाक्य

लिखे, प्रत्येक व्यक्ति को उसके प्रारब्ध कर्मों के अनुसार ही कार्य करने पड़ते हैं। कोई कितना ही प्रयत्न करे, जो प्रारब्ध में है, वह होकर रहेगा। असंभव बात कभी संभव नहीं हो सकती। जो होना है, वह होकर रहेगा, आप कितना ही सर पटकें, फिर भी कई बातें आपकी शक्ति से बाहर है। इसलिए सबके लिए श्रेयस्कर मार्ग यही है कि वह अपने कर्तव्य का पालन करें। पुत्र की दार्शनिक बातों को सुनकर अलगम्माल निराश हो गई और भारी हृदय से घर लौट गई।

बीमार मां की सेवा

कुछ समय के बाद अलगम्माल के बड़े पुत्र की मृत्यु हो गई अब उनके मां के पास कोई दूसरा आसरा नहीं रह गया था। इसलिए वह अपने पुत्र नागसुंदरम को लेकर तिरुवम्मलाई आ गई। वहां पहुंचते ही वे टाइफाइड से बीमार पड़ गईं और कई सप्ताह तक पीड़ित रहीं। महर्षि रमण ने अपनी मां की खूब सेवा सुश्रूषा की। अब वे अपनी मां के शय्या के पास ही समाधि लगाते थे और अधिक से अधिक समय अपनी मां की सेवा में देते थे। उन्होंने भगवान अरुणाचलेश्वर की स्तुति में स्तोत्र लिखे और उनसे विनय की कि वे उनकी मां को शीघ्र स्वस्थ कर दें। कुछ दिनों के बाद अलगम्माल पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गई। स्थायी रूप से वह वहीं रहने लगीं। अलगम्माल ने भोजनादि बनाने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया और नागसुंदरम को संन्यास आश्रम की दीक्षा दिला दी तथा उनका नाम निरंजनानंद रखा गया। आश्रम के अन्य आश्रमवासी उन्हें चिन्नस्वामी नाम से पुकारते थे। सन् 1922 के मई महीने में आश्रम में निवास करते हुए महर्षि रमण की मां ने देहलीला समाप्त की।

पशु-पक्षियों से प्रेम

महर्षि रमण साक्षात् करुणा के अवतार माने जाते थे। दूसरों के कष्टों को देखकर उन्हें उन पर तरस आता था। दुखी व्यक्तियों के दुखों को देखकर वे दुख के सागर में डूब जाते थे। वे मनुष्य मात्र के ही नहीं अपितु पशु, पक्षियों के मित्र व हितैषी थे। उनका आश्रम प्राचीन ऋषि-मुनियों के आश्रम की याद दिलाता था। गाय, चिड़िया, बंदर तथा गिलहरी उनके आश्रमवासी थे, उनके संगी साथी थे। वे सदैव उन्हें सम्मानित ढंग से आप कहकर संबोधित करते थे। वे उनका नाम लेकर अरे-अरे कहकर कभी नहीं पुकारते थे। लक्ष्मी नामक गाय सब आश्रमवासियों की प्रिय पात्र थी। आश्रम के पशु-पक्षियों को नियमित रूप से भोजन खिलाया जाता था। जब किसी पशु या पक्षी की मृत्यु हो जाती, तब उसका अंतिम संस्कार बड़ी आत्मीयता तथा गंभीरता से किया करते थे।

किसी स्वजन की तरह उनको श्रद्धांजलि दी जाती। महर्षि रमण का यह विश्वास था कि मनुष्यों के समान ही पशु-पक्षियों में प्राण हैं, उन्हें भी सुख और दुख की अनुभूति होती है। अतः उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। यह उनके असीम स्नेह का एक अच्छा उदाहरण है। जानवरों के प्रति उनका गहरा स्नेह एवं लगाव का एक अन्य उदाहरण, जब उनकी लक्ष्मी नामक गाय मर गई तब वे फूट-फूट कर रो रहे थे, मानो जैसे वह गाय उनके परिवार की एक अहम सदस्य थी। उनके बारे में यह कहा जाता है कि जब वह अरुणाचल पर्वत के चट्टान पर लेटे हुए थे, तब एक सांप उनके शरीर पर से गुजर गया, लेकिन महर्षि रमण के चेहरे पर भय की शिकन तक नहीं आई और यह सारा खेल एक व्यक्ति देख रहा था। जब उससे नहीं रहा गया तो उसने महर्षि रमण के पास जाकर पूछा सांप आपके शरीर से होकर जा रहा था, क्या आपको डर नहीं लगा? तब मुस्कुराते हुए रमण महर्षि ने कहा डर तो नहीं लगा पर ऐसा लग रहा था कि कोई कोमल और ठंडी वस्तु मेरे शरीर के ऊपर से जा रही है।

सेवाश्रम

महर्षि रमण अपने देहावसान तक अरुणाचल में रहे, उन्होंने अरुणाचल कभी नहीं छोड़ा। उनका आश्रम का जीवन सुखी तथा शांतिपूर्ण था। कई दर्शनार्थी कुछ दिन उनके पास रहते थे तथा कुछ स्थायी रूप से निवास करने आ जाते थे। इस प्रकार आश्रम-परिवार सा हो गया था। आश्रम में सफाई, उपचार, भोजन, निवास की व्यवस्था उनके शिष्यों द्वारा की जाती थी, साधकों को हर प्रकार की सुविधाएं प्रदान की जाती थी।

आश्रम में कई विभाग खोले गए जिनमें गौशाला, वेदपाठशाला, प्रकाशन विभाग तथा श्रीवी का मंदिर प्रमुख विभाग थे। महर्षि रमण कभी भी निष्क्रिय नहीं रहे, वे सदैव सक्रिय रहते थे। वे आश्रम के प्रत्येक विभाग के कार्य में हाथ बंटाया करते थे। छपाई की अशुद्धियां ठीक करने से लेकर आश्रम से संबंधित पत्र व्यवहार स्वयं करते थे। आश्रम की प्रत्येक गतिविधि में वे रुचि लेते थे।

महर्षि रमण अरुणाचल पर्वत की परिक्रमा करने में एक अलौकिक आनंद का अनुभव करते थे। अरुणाचल की परिक्रमा करना उनकी दिनचर्या का एक अंग था। आश्रम के एक भाग में वे फल, फूल और सब्जियां भी उगाते थे। आश्रम की कोई भी चीज बर्बाद करने की अनुमति वे नहीं देते। साधारण से साधारण वस्तु बर्बाद नहीं होने देते थे। सब्जी के फूलों के छिलके गायों को खिलाये जाते थे। आश्रम के सारे सदस्यों के साथ समानता का व्यवहार किया जाता था। महर्षि रमण भी सबके साथ पंगत में बैठकर भोजन करते थे। वे अपने लिए कोई विशेष व्यवस्था या सुविधा नहीं चाहते थे,

उनकी इच्छा थी कि उनके प्रति विशेष व्यवस्था या सुविधा नहीं किया जाए । उनकी यह भी इच्छा थी कि उनके प्रति विशेष सम्मान प्रदर्शित नहीं किया जाए।

अहिंसा के पुजारी

महर्षि रमण अहिंसा के जीते-जागते प्रतिमूर्ति थे। आश्रम में चोरी करने वाले चोरों के साथ उन्होंने जैसा व्यवहार किया, वह वाकई में इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है । जो उनके साथ अशिष्ट व अभद्र व्यवहार किया करते थे, उनके प्रति भी वे सहानुभूति तथा सहयोग की भावना रखते थे। उनका हमेशा से यह दृढ विश्वास था कि अपराधी को सुधारना ही बुद्धिमान व्यक्ति का काम है। यहां तक कि वह अपने आश्रम के पशु-पक्षियों से भी किसी को दुर्व्यवहार ना करने की सख्त हिदायत दे रखी थी। इसका उदाहरण उन घटनाओं से भी मिलता है जब वह एक घायल बंदर की सेवा कर रहे थे, तब बंदर ने उनकी टांग को काट खाया, जिससे उन्हें गहरी पीड़ा हो गयी। परंतु, वे बिना क्रोध किए उसकी सेवा करते रहे।

महर्षि रमण बहुत ही सादगी पंसद संतों में से थे, उनकी कभी भी यह लालसा नहीं रही कि वह अपना प्रचार, प्रसार एवं विस्तार करें, तभी तो उन्होंने भाषाओं एवं पुस्तक लेखन द्वारा अपनी शिक्षाओं एवं उपदेशों का प्रचार एवं प्रसार नहीं किया।

सभी धर्म के लिए खुला था आश्रम

उनके शिष्यों को दिए जाने वाले उत्तर काफी संक्षिप्त, सटीक एवं सरल होते थे, जिससे जिज्ञासु शिष्य संतृप्त हो जाते थे। महर्षि रमण के मतानुसार मन के कुविचारों को शुद्ध करने का एकमात्र मार्ग है आत्मचिंतन। वे हमेशा अपने शिष्यों को आत्मचिंतन के जरिये अपने कुविचारों को शुद्ध करने की सलाह दिया करते थे।

उनका आश्रम धर्मनिरपेक्ष आश्रम था, जहां सभी जाति, वर्ण, धर्म एवं सम्प्रदाय के लोगों को बराबर का सम्मान प्राप्त था। कोई भेदभाव नहीं, सभी के लिए उनके आश्रम के द्वार खुले थे। गरीब, अमीर, अपंग और विभिन्न रोगों से ग्रस्त सभी महिला एवं पुरुष बिना रोक-टोक के आश्रम आते-जाते थे। महर्षि रमण के मुताबिक, सभी भगवान की संतान है और इनसे नफरत करना भगवान से नफरत करने के समान है।

जीवन की अंतिम यात्रा और महासमाधि

समय के साथ महर्षि का स्वास्थ्य अब उनका साथ नहीं दे पा रहा था, दिनोंदिन उनका स्वास्थ्य बिगड़ता ही जा रहा था। डाक्टरों ने उन्हें पौष्टिक आहार लेने की

सलाह दी, लेकिन उन्होंने डॉक्टरों की सलाह को अनदेखा कर दिया। जिसकी वजह से उनके बाएं हाथ पर गांठ बन आई थी। डॉक्टरों के मुताबिक, उन्हें 'सरकोमा' की बीमारी हो गई थी। हालांकि, ऑपरेशन के बाद उस गांठ को निकाल दिया गया। परंतु वह गांठ फिर से निकल आई। इस रोग ने उन्हें इस प्रकार घेर रखा था कि डॉक्टरों के पास अब उनका हाथ काटने के सिवाय और कोई चारा नहीं था, लेकिन महर्षि रमण अपना हाथ कटवाने को तैयार नहीं हुए, उनका कहना था कि मनुष्य का शरीर ही बीमारी का घर है। इसलिए बेचारे हाथ को क्यों दंड दिया जाए? इस तरह वह अपनी जिद पर अड़े रहे, जिससे रोग दिनोंदिन बढ़ता ही गया। लेकिन मौत को लेकर उनके चेहरे पर कभी भी करुणा और वेदना का भाव नहीं आया।

उनकी बीमारी की खबर अब जंगल में आग की तरह फैल चुकी थी, जिससे उनके अंतिम दर्शन के लिए उनके श्रद्धालु एवं शिष्यगणों का हुजूम दूर-दूर से आश्रम में आने लगा। आने वाले दर्शनार्थी अपने गुरु को इस रुग्णावस्था में देखकर शोकाकुल और वेदना में डूब जाते। परंतु, अपने शिष्यों को सांत्वना देते कहते कि संसार में जो पैदा हुआ है, उसे मरना ही है। यह शरीर नश्वर है और आत्मा शाश्वत अमर है। इसलिए इस नश्वर शरीर के लिए दुखी नहीं होना चाहिए। और इस प्रकार महर्षि रमण अपनी जीवन लीला को समेटते हुए 24 अप्रैल 1950 को अंतिम सांस लेकर महासमाधि को उपलब्ध हो गये।

■

9

स्वामी दयानन्द सरस्वती

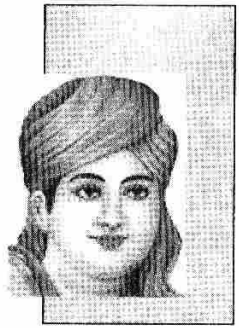

मथुरा के स्वामी दंडी विरजानन्द नेत्रहीन संन्यासी थे। नर्मदा तट पर भ्रमण के समय स्वामी दयानन्द सरस्वती को स्वामी दंडी विरजानन्द की योग्यता तथा उनके अपूर्व शास्त्रज्ञान का पता चला। फलतः वे मथुरा की ओर चल पड़े। मथुरा में आकर उन्होंने स्वामी दंडी विरजानन्द से अष्टाध्यायी, महाभाष्य तथा वेदान्त का लगभग अढ़ाई वर्षों तक अध्ययन किया। जब अध्ययन समाप्त हुआ और विदाई की बेला आई तो वे कुछ लौंग भेट रूप में देने के लिए गुरु स्वामी दंडी विरजानन्द के समीप आए। जब कि अन्य विद्यार्थी बहुमूल्य भेंटें लेकर उपस्थित हुए थे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसी भेंट को गुरु के समक्ष रखकर कहा कि मुझ अकिंचन के पास अन्य कुछ नहीं है जो आपको प्रस्तुत करूं। इस पर दंडीजी ने कहा कि वे तो उनसे वही मांगेंगे जो उनके पास है। इस पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कहा कि वे यथा-सामर्थ्य वह वस्तु उन्हें अवश्य देंगे। स्वामी दंडी विरजानन्द ने कहा, पुत्र तुमने जो अध्ययन किया है उसकी सफलता तभी है जब तुम देश का सुधार करो। वेद की विद्या लुप्त हो गई है, इसका पुनः प्रचार करो। सत् शास्त्रों की शिक्षाओं को फैलाओ। मतमतान्तरों को समाप्त कर वास्तविक वेद धर्म का प्रचार करो।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने गुरु स्वामी दंडी विराजनन्द के आदेश को विनयपूर्वक स्वीकार किया और उसे पूरा करने का वचन दिया। फिर गुरु स्वामी दंडी विरजानन्द का आशीर्वाद लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती चल पड़े।

स्वामी दयानन्द सरस्वती आगरा आए। आगरा निवास लगभग दो वर्ष का रहा। आगरा में ही उन्होंने संध्या विधि की एक पुस्तक लिखी। यहां से वे धौलपुर, ग्वालियर, करौली, जयपुर, अजमेर, पुष्कर में उन्होंने मत-मतान्तरों का खंडन किया। वेद का

ध्वजा लहराया। जयपुर में तीन-चार शास्त्रार्थ किए जिनसे इनकी विद्वता का परिचय स्थानीय विद्वानों को मिला। पुष्कर, अजमेर में किसी विद्वान की हिम्मत उनसे शास्त्रार्थ करने की नहीं हुई।

स्वामी दयानन्द सरस्वती हरिद्वार कुंभ मेले में पहुंचे। कुम्भ मेले के अवसर पर हजारों साधु-संत तथा अनेक संप्रदायों के आचार्य, मठाधीश तथा महन्त आए थे। हरिद्वार के इस धर्म मेले में स्वामी दयानन्द सरस्वती निर्भय होकर मतमतान्तरों का खंडन करते और उपनिषदों के प्रमाण देकर एकेश्वर उपासना का प्रचार रते थे। अढ़ाई वर्षों तक स्वामी दयानन्द सरस्वती गंगा के किनारे किनारे भ्रमण कर उपदेश देते रहे। इस गांगेय तटवर्ती प्रदेश में उन्होंने लोगों को संध्योपासन. तथा गायत्री का उपदेश दिया। कभी-कभी वे मनुस्मृति तथा उपनिषदों की कथा भी किया करते। अढ़ाई वर्षों की इस अवधि में अनेक छोटे-बड़े शास्त्रार्थ भी होते रहे। जिसमें स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सभी विद्वानों को पराजित किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती का विचार वेदानुकूल थे। गंगा के किनारे स्वामी दयानन्द सरस्वती की विद्वता की धूम मच गई।

स्वामी दयानन्द सरस्वती पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल, बिहार आदि कई स्थानों पर गए और अपने व्याख्यान दिए। अनेक स्थानों का भ्रमण करने के बाद स्वामी दयानन्द सरस्वती इलाहाबाद आए और वहां अनेक व्याख्यान दिए। म्योर कालेज के विद्यार्थी भी उनके पास आते और अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर करते थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उन्हें वैदिक धर्म की विशेषताओं की जानकारी दी। ये विद्यार्थी यूरोपीय विद्वानों के लिखे इतिहास तथा ऐसे ही प्रोफेसरों द्वारा दी गई शिक्षा के कारण अपने धर्म की उपेक्षा करने लगे थे। अब स्वामी दयानन्द सरस्वती के मुख से उसके महत्त्व का उन्हें ज्ञान हुआ तो वे प्रसन्नता से भर गए। इलाहाबाद में ही स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थ प्रकाश' नामक अपना प्रमुख सिद्धांत ग्रंथ लिखा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विभिन्न स्थानों में भ्रमण शास्त्रार्थ और मौलिक युक्तियों के सहारे वेदों का प्रचार किया। लोगों को वेदों के ज्ञान के उस स्त्रोत से परिचित कराया जिससे नाना विज्ञानों की नहरें निकलती हैं। मनुष्य को उस शाश्वत ज्योति की झलक दिखा दी जिसे संसार के समस्त ज्ञान रूपी दीपक अपना प्रकाश ग्रहण करते हैं और अंधकार को दूर करते हैं। ईश्वरीय ज्ञान वेदों को उन्होंने सर्वसाधारण तक पहुंचाया।

मध्यकाल के बाद भारती धर्म में मिथ्या विश्वासों एवं बाह्याडम्बरों का बोलबाला था। अनेक धार्मिक संप्रदायों की स्थापना हो चुकी थी। मूर्तिपूजा, पशुबलि, सती प्रथा

आदि धार्मिक कुरीतियों की, उन्होंने कटु आलोचना की और अंधविश्वास बाल-विवाह, अशिक्षा, पर्दाप्रथा, छुआछूत एवं समुद्र यात्रा निषेध का सख्त विरोध किया तथा विधवा विवाह और स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। सती प्रथा को पाप एवं क्रूर बताया और स्त्रियों के समान अधिकार पर बल दिया। स्त्रियों को शिक्षित करने की दिशा में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कारगर कदम उठाया। स्त्रियों को वेद पाठ करने की अनुमति दी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी भाषा और साहित्य को प्रोत्साहन दिया। हिन्दी भाषा में ग्रंथों की रचना कर उन्होंने राष्ट्र भाषा का गौरव बढ़ाया। संस्कृत भाषा के महत्त्व को पुनः स्थापित किया। उन्होंने ब्रह्मचर्य और चरित्र निर्माण की दृष्टि से आश्रम-व्यवस्था प्रणाली के माध्यम से छात्रों को शिक्षित करने की प्रथा शुरू की। स्वदेशी-मंत्र की दीक्षा दी और पश्चिमी विचारों और आदर्शों के अंधानुकरण के विरुद्ध आंदोलन आरंभ किया। दूसरे धर्म में गए हुए हिन्दुओं को पुनः अपने मूलधर्म में लाने का समर्थन किया। इसके लिए शुद्धि आंदोलन चलाया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना कर भारत के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में नई गति ला दी थी। अनाथालयों एवं विधवाश्रमों की स्थापना की गई। विवाह संबंधी नियमों को सरल बनाया गया और सामाजिक दोष दूर करने के लिए आंदोलन किया गया। स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाने के लिए स्वतंत्र स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना की गई।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने जीवन का बहुमूल्य भाग सच्चे धर्म की खोज में व्यतीत किया। उनके जैसे महापुरुष के लिए यह समझ लेना स्वाभाविक ही था कि धार्मिक सुधार के बिना इस धर्मभूमि भारत का सुधार असंभव ही है। अतः सुधार के इस विचार को ही प्रधानता देकर उन्होंने एक ऐसी संस्था का बीजारोपण किया जिसका उद्देश्य था, देश में धर्म सुधार करना तथा सच्चे वेदाधारित धर्म का प्रचार करना। उनका विचार किसी नए संप्रदाय या मत की नींव डालना कदापि नहीं था। अपितु उनका विचार तो पुरातन शुष्क धर्मवृक्ष को हराभरा करने का ही था। स्वामी दयानन्द सरस्वती के पूर्व भारतवासी अपने को भूल चुके थे कि भारत ही कभी जगत गुरु था। परंतु भारतीय संस्कृति की महत्ता का शंख जब स्वामी दयानन्द सरस्वती ने फूंका तो भारतीय समाज में नवचेतना और आत्मसम्मान के भाव जाग्रत हुए और भारतवासी यह अनुभव करने लगे कि उनके धर्म और संस्कृति का महत्त्व अन्य धर्मों से कम नहीं है। सभी भारतवासी फिर से जग उठे। भारतीयों में स्वाभिमान और राष्ट्र प्रेम जागरित हुआ। स्वधर्म, स्वभाषा और स्वदेश की आवाज ने कालान्तर में इस देश में स्वराज्य की आवाज बुलंद की। ■

10

साधु टी.एल. वासवानी

इस धरती को कई संतों, महात्माओं और आत्मज्ञानियों ने अपनी साधना स्थली बनाया है। इसी पावन धरती सिंध की गोद में 25 नवंबर सन् 1879 को कार्तिक एकादशी के पावन दिन एक महान संत का जन्म हुआ। जिनका नाम रखा गया 'थांवर' अर्थात् स्थिर बुद्धि वाला। उनकी मां का नाम 'वरानदेवी' और पिता का नाम 'लीलाराम वासवानी' था।

माता वरानदेवी की सुबह गुरु नानक देव की ध्यान साधना से शुरू होती थी। पिता मां काली के भक्त थे, जो एक टांग पर खड़े होकर मां की स्तुति करते थे।

थांवर के बड़े भाई पहलाजराय की भगवान राम पर अगाध श्रद्धा थी। घर में इस पवित्र श्रद्धा और भक्ति की लगातार बहने वाली धारा में थांवर बचपन से ही आध्यात्मिक सागर की ओर उन्मुख हो गए। उनकी प्रारंभिक शिक्षा सिंधी में हुई और उसके बाद अंग्रेजी स्कूल में साधु हीरानंद आडवाणी जैसे महान समाज सुधारक, शिक्षाविद तथा निष्काम सेवक की छत्रछाया में हुई। जिसका असर इनके जीवन पर बहुत गहरा पड़ा। वे पढ़ाई के साथ-साथ व्याख्यान प्रतियोगिता काव्य पाठन आदि कार्यक्रमों में सर्वप्रथम रहते थे।

शाकाहार व्रत

एक बार पाठशाला जाते समय वे किसी मांस की दुकान के सामने से गुजरे और मृत पशुओं के शरीर से टपकते हुए रक्त ने उनके अंदर ऐसी वितृष्णा भर दी कि वे घर लौट आए और तुरंत मांसाहार का त्याग कर दिया।

इसके लिए उन्होंने माता-पिता का भी विरोध किया... और मां काली के पुजारी से पूछा- जब यह जगत माता है, तो अपने ही बच्चों की बलि से कैसे प्रसन्न हो सकती है?

उन्होंने शाकाहार अपना कर लाखों लोगों के जीवन में प्राणी मात्र के लिए दया की ज्योति जगाई।

अध्यात्म का पाठ

एक बार शिवरात्रि के मेले में पिता जी ने इन्हें जब गुब्बारा दिलाया तो इन्होंने उसमें इतनी हवा भर दी कि वह फूट गया... पिता ने अध्यात्म का पाठ पढ़ाया कि इस संसार की हर वस्तु इस गुब्बारे की तरह ही नश्वर है। बचपन से ही उनके अंदर गरीबों के लिए इतनी ज्यादा संवेदना थी कि जब भी खाना खाने बैठते और बाहर से किसी गरीब भिखारी का याचना भरा स्वर सुनाई देता तो वे दौड़कर अपनी थाली का खाना उसकी झोली में डाल आते। ठंडी रातों में जाकर वे उन निराश्रय लोगों की पीड़ा को महसूस करते, जिनके सर पर न छत है, और न ही ओढ़ने के लिए कोई कंबल।

प्रकृति का साथ उन्हें बहुत आनंद देता था। चांदनी रात में तारों की छांव में वे घंटों अकेले ही बैठे रहते। सूर्योदय के समय बगीचों के फूलों की महक और कभी वृक्षों की छांव में बैठकर नदियों की कल कल के स्वर का आनंद लेते।

शिक्षा के सोपान

साधु हीरानंद के शिष्यत्व में इन्होंने सिंधी, अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओं के साथ प्राचीन वेदों, उपनिषदों का भी अध्ययन किया। मैट्रिक की परीक्षा में ये पूरे सिंध प्रांत में सर्वप्रथम रहे...। मां चाहती थी कि मेरा बेटा खूब पढ़े लिखे और धन कमाए। बेटा तो ईश्वर की साधना कर साधारण जीवन जीना चाहता था, परंतु मां के अरमानों की खातिर उच्च शिक्षा ग्रहण करने कॉलेज में दाखिल हुए, कॉलेज में सभी इनकी विनम्रता बुद्धिमानी तथा भाषण में प्रभावित थे। उन्होंने बी.ए की परीक्षा अंग्रेजी विषय में, विशेष, योग्यता के साथ मुंबई विश्वविद्यालय से पास की... और इन्हें स्कॉलरशिप प्रदान की गई।

माता ने इन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा, तुम्हारा नाम विश्व भर में प्रसिद्ध होगा। अब मैं तुम्हारा विवाह करूंगी।

विवाह से इंकार

बेटे ने बड़ी विनम्रता से कहा- मुझे किसी पद या पैसों का लालच नहीं है। मैं तो एक फकीर का जीवन जीना चाहता हूं। घर-गृहस्थी के जंजाल में फंसने की मेरी कोई इच्छा नहीं है।

मां उदास हो गई, परंतु बेटे के सिर पर सेहरा देखने और अपने आंगन में पोते-पोतियों को खेलते हुए देखने की इच्छा ने उनके लिए पुत्रवधु की तलाश शुरू कर दी। कई उच्च परिवारों से रिश्ते आए परंतु जब मंगनी की बात उठती तो थांवर कोई न कोई बहाना बनाकर बात को टाल देते।

सिंध कॉलेज कराची में व्याख्याता के रूप में इन्हें काफी कीर्ति मिली। इन्हें जगह-जगह भाषण देने के लिए आमंत्रित किया जाता, जहां ये श्रीमद्भगवत गीता के प्रवचनों द्वारा नई पीढ़ी में शुभ संस्कार और धार्मिक विचारों के बीज बोते थे।

सन् 1902 में जब इतिहास व दर्शन में एम.ए. पास किया तो मां ने कहा-तुम वकालत की शिक्षा ग्रहण कर.. वकील बनो और बहुत पैसा कमाओ।

पुत्र ने मां से विनम्रतापूर्वक कहा कि... मां वकालत करने वालों को तो अक्सर झूठे बोलना पड़ता है। मैं तो सत्य के मार्ग का पथिक हूं, यह पेशा मैं नहीं अपना पाऊंगा। मैं पैसों के प्रलोभन में न फंसकर अध्यापक बनूंगा और सत्य की कमाई करूंगा।

सन् 1903 में कोलकाता के विद्यासागर कॉलेज में नियुक्त होने के बाद उनकी विद्वता ने कोलकाता को मोहित कर लिया। वहीं इनकी भेंट श्री केशवचंद्र सेन के भतीजे श्री परमोथोलाल से हुई। वे एक महान तत्ववेत्ता तथा भक्त थे। लोग उन्हें 'नालुदा' कहते थे। नालुदा ने अपनी दया दृष्टि थांवर पर डाली और उनका मार्गदर्शन किया। धीरे-धीरे गुरु के प्रति आकर्षण बढ़ता गया और वे रात-दिन गुरुभक्ति और ईश्वर चिंतन में लीन रहने लगे।

छुट्टियों में प्रकृति की गोद और तीर्थों के दर्शन किया करते थे। एक बार रविन्द्रनाथ ठाकुर स्वयं जब उनके घर पहुंच गए, तो उन्होंने सजल आंखों से कहा 'मेरी आंखों में आपके दर्शनों की प्यास थी और उसे आपने स्वयं ही आकर बुझा दिया।'

लोकमान्य तिलक के स्वदेशी आंदोलन ने इन्हें इतना प्रभावित किया कि इन्होंने केवल स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग आरंभ कर दिया। कुछ समय बाद इस आंदोलन में सक्रिय सहयोग भी दिया।

सन् 1908 में इन्होंने सिंध कॉलेज कराची में नौकरी कर ली। ये अपने छात्रों को दृढ़ चरित्र, देशभक्त और सदा स्वस्थ रहने का गुरुमंत्र दिया करते थे। इन्हें कई स्थानों पर धर्म सभाओं की अध्यक्षता करने व भाषण देने के लिए निमंत्रित किया जाता था।

सन् 1893 में, शिकागो में आयोजित विश्व धर्म सम्मेलन में स्वामी विवेकानंद ने जिस तरह हिंदू धर्म की महानता का बखान किया था... और अपने सारगर्भित भाषण से सभी धर्मों के प्रतिनिधियों को मंत्रमुग्ध कर दिया था।

उसी तरह सन् 1910 में द्वितीय विश्व धर्म सम्मेलन जर्मनी की राजधानी बर्लिन में आयोजित किया गया, जिसमें उनके गुरु नालुदा के साथ 29 वर्षीय युवा थांवर वासवानी को भी आमंत्रित किया गया था।

इन्होंने अपने ओजपूर्ण भाषण की शुरुआत वेदों की प्रार्थना 'असतोमा सदगमयः' से शुरू की तथा कहा कि सच्चा धर्म तो अहिंसा, प्रेम, सहानुभूति, सत्य, सहयोग, दया और परोपकार सिखाता है। परंतु आज हम धर्म के मूल परंपरागत गरिमापूर्ण सिद्धांतों को भूलकर बाह्य आडम्बरों में फंस गए हैं।

भारत संपूर्ण विश्व को एक परिवार मानकर विश्व के कल्याण की कामना करता है, अगर सभी देश इसी विचार को अपना लें तो इस पृथ्वी पर शांति और स्नेह की वर्षा होने लगेगी।

हमारी आत्मा सनातन ब्रह्म का अंश है... वह शरीर नहीं है। हर एक प्राणी में वही एक शक्ति आत्मा के रूप में है, अतः हमें प्रत्येक के लिए श्रद्धा व प्रेम का भाव रखना चाहिए। परमात्मा तो सर्वत्र विराजमान हैं, परंतु हमारी दोषदृष्टि के कारण हम उन्हें पहचान नहीं पाते। आप अंदर उतर कर उस परमसत्ता का साक्षात्कार करें... जिसे ईसा, बुद्ध, महावीर, राम और कृष्ण ने देखकर विश्व को अहिंसा, शांति, प्रेम और दया का संदेश दिया।

मंत्रमुग्ध श्रोताओं ने अपनी शंकाओं के समाधान को भी प्रश्नोत्तर के रूप में पाया।

पूरे यूरोप की सैर करते हुए उन्होंने अपने व्याख्यानों में भौतिक उन्नति के कारण संसार में फैल रहे भोग के रोग पर प्रकाश डाला। और कहा 'यहां यह दुखदाई है। आध्यात्मिक उन्नति ही सच्ची उन्नति है।' अपने तन-मन और धन को परोपकार के कार्यों में समर्पित करने के लिए कहा।

सन् 1912 में विदेश यात्रा से लौटकर उन्होंने दयालसिंह कॉलेज के प्राचार्य पद का भार ग्रहण किया। यहां लाहौर में जब उन्हें कॉलेज से बंगला प्राप्त हुआ तो मां और बहन भी साथ आ कर रहने लगीं। वे जी-जान से अपनी मां की सेवा करते। सन् 1918 में मां महामारी की शिकार हो गई तथा अक्षय तृतीया के दिन उन्होंने अंतिम सांस ली।

मां की अंतिम क्रिया करने के बाद इन्होंने अपना पद त्याग दिया, सारे वस्त्र दान कर दिए और खादी धारण कर ली। भगवान श्याम सुंदर की प्यास में वे मथुरा, वृंदावन और बृज की गलियों में जाकर कई संतों और महात्माओं के संग ईश्वर के प्रेम में आंसू बहाते रहे।

अब लोक कल्याण उनके जीवन का व्रत बन गया था... इसके लिए वे जगह-जगह जाकर व्याख्यानों के द्वारा जन-जागृति पैदा करते।

उस वक्त देश में स्वतंत्रता का बिगुल बज उठा था। महात्मा गांधी का असहयोग आंदोलन जारी था... वासवानी जी भी अब राष्ट्रप्रेम के कारण इस आंदोलन में कूद पड़े। इन्होंने अपने लेखों के द्वारा जनता का आवाहन किया। उनमें राष्ट्रीय चेतना का मंत्र फूंका। उन्होंने स्वयं एक स्वराज टोली बनाई। उन्होंने अछूतों का उद्धार करने का भी बीड़ा उठाया। और जगह-जगह पर भारत युवक संघ स्थापित किए। ये संघ समाज में फैले अंध विश्वासों को दूरकर, शिक्षा, सफाई और स्वास्थ्य के महत्त्व पर लोगों को शिक्षित करते थे।

साधु वासवानी नारी जाति के उत्थान के लिए सारी उम्र प्रयत्न करते रहे। वे नारियों को सामाजिक चेतना का स्रोत मानते थे। उनका मानना था कि नारियां ही इस संपूर्ण मानव जाति की जननी होने के नाते अपनी संतानों को सद्गुणी और चरित्रवान बना सकती हैं। वे ही उन्हें शांतिप्रिय और करुणामयी तथा संवेदनशील बना सकती हैं। इस पृथ्वी को युद्धरहित और स्नेह की एक डोर में बांधने में नारी ही सक्षम है। वे महिलाओं से कहते थे तुम सादगी और पवित्रता को अपनाओ।

सन् 1931 में जन्माष्टमी के पावन दिन पर उन्होंने सखी सत्संग का श्री गणेश किया। सत्संग के द्वारा महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाया। इस सत्संग में नारियों द्वारा दहेज प्रथा, नारी अत्याचार आदि बुराइयों का विरोध कर उन्हें दूर करने के प्रयत्न किए जाते।

इतना ही नहीं नारियों को शिक्षित करने के लिए उन्होंने मीरा शिक्षा अभियान शुरू किया। चार जून सन् 1933 को प्रातः काल 5 बजे शास्त्रों के पाठ के साथ मीरा स्कूल का श्री गणेश किया।

साधु वासवानी ने मीरा स्कूल के द्वारा एक नई शिक्षा क्रांति को जन्म दिया। जिसकी कई शाखाएं देश में फैलकर आदर्श नारियों का निर्माण कर रही हैं। आजादी का संग्राम अपने चरम पर था। गांधीजी की हत्या ने इन्हें आघात पहुंचाया और 14 अगस्त, 1947 को इन्होंने कहा 'आजादी की खुशियां मनाएं परंतु मेरा मन दुख से रो रहा है। सच्ची आजादी तो एकता और प्रेम में है। इस हिंसा व आतंक के वातावरण में, मैं ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूं कि हम आपसी भाईचारा न भूलें।'

11 सितम्बर, 1948 को कायदे आजम मुहम्मद अली जिन्ना का इंतकाल हो गया। प्रतिदिन की तरह सत्संग में प्रसाद बंटा तो किसी ने ईर्ष्यावश यह अफवाह फैला दी कि जिन्ना साहब की मौत पर यहां हलवा बांटा जा रहा है। घरों पर ईंट पत्थर फैंके जाने

लगे, धमकियां दी जाने लगीं। मुसलमानों ने हिन्दू और सिखों पर अमानवीय अत्याचार करने शुरू कर दिए। इस नफरत की आंधी ने कत्ले-आम मचा दिया। सिंध की धरती खून से नहा उठी। लोग हिंदुस्तान की शरण में जान बचाने भागे। मीरा स्कूलों को भी नष्ट करने की साजिशें रची गईं। ऐसी दहशत में वहां के मुस्लिम जिलाध्यक्ष ने साधु वासवानी से अनुरोध किया कि आप भारत चले जाएं, यहां खतरा बढ़ता ही जा रहा है। अपनी मातृभूमि को छोड़ना असहय था। परंतु तभी अंतर में एक आवाज उठी कि तुम संतों की तपोभूमि भारत में जाकर वहां की दुखी जनता की सेवा करो। उन्होंने मीरा स्कूल सरकार को देकर वहां की भूमि को अंतिम प्रणाम किया।

जब साधु वासवानी भारत आए तो यहां सिंधी कैम्पों की दुर्दशा देखकर रो पड़े। उन्होंने एक सभा में धनवानों से इन शरणार्थियों की सहायता करने की अपील की। तीन महीने मुंबई में रहने के बाद 13 फरवरी को वे पुणे पधारे। संत तुकाराम और संत ज्ञानेश्वर की समाधि के दर्शन किए। महर्षि कर्वे ने कहा-यह पुणे का सौभाग्य है कि सिंध के संत ने इस शहर को अपनाया है।

साधु वासवानी ने कहा- 'मुझे विवश होकर मातृभूमि सिंध को छोड़ना पड़ा, परंतु पितृभूमि भव्य भारत में आपने जो मुझे गले से लगाया, उसके लिए मैं आपका आभारी हूं।'

जब साधु वासवानी पुणे आए तो स्कूल और सत्संग चलाने के लिए उन्हें जोजाबाई कौंसिल हॉल किराए पर मिल गया। 9 मार्च, 1950 महर्षि कर्वे ने मीरा स्कूल का शुभारंभ करते हुए कहा कि यहां साधु वासवानी के अनुकूल शिक्षा दी जाएगी जो विद्यार्थियों का भविष्य उज्जवल करेगी और 9 जून से यहां स्कूल तथा सत्संग होने लगा। सत्संग की वह धारा आज भी भक्तों की प्यास बुझा रही है।

सन् 1951 से साधु वासवानी भी अपने प्रिय शिष्यों, जशन, शांति और साथी के साथ रहने लगे। देश विदेश से आने वाले श्रद्धालुओं के लिए यह स्थान एक पवित्र तीर्थस्थल बन चुका था। साधु वासवानी की यह कर्मस्थली भक्ति, सेवा और प्रभु स्मरण का केन्द्र बन चुकी थी।

महाप्रयाण

16 जनवरी, सन् 1966 को जब इन्होंने अपने नश्वर शरीर का त्याग किया तो लाखों लोगों ने स्वयं को अनाथ समझा और उनकी आंखों से गंगा, यमुना अविरल बहने लगी। वे दुखियों और अनाथों के मसीहा थे। हर कोई इस दारूण दुख की घड़ी में असहाय था। इस वैरागी संत का अथाह परिवार स्वयं को बेसहारा समझ रहा था।

वे भी तो यही कहते थे... मुझे स्वर्ग का सुख नहीं, हर दुखी के होठों पर मुस्कान चाहिए। मैं तो बार-बार जन्म लेकर प्राणी मात्र की सेवा करना चाहता हूं। इसलिए जाते-जाते वे अपनी दिव्य विरासत दादा जे.पी. वासवानी को सौंप गए। जिन की छत्रछाया में उनका यह सेवा का नन्हा सा पौधा आज एक विशाल वट वृक्ष के रूप में नित नई शाखाओं के रूप में पल्लवित होकर सेवा का व्रत निभा रहा है।

शिक्षा, चिकित्सा, दान, सत्संग, सेवा, संस्कृति, प्रकाशन के क्षेत्र में इसने आश्चर्यजनक प्रगति की है।

25 नवंबर, 1951 को अपने जन्मदिवस संदेश में उन्होंने कहा- 'आपके स्नेह व सम्मान का मैं आभारी हूं। आप आज इस देह का जन्मदिन मना रहे हैं, परंतु आत्मा तो अजन्मा है। आप सभी उसी आत्मा को पहचानें और आपको उसके दिव्य दर्शन होंगे। यह दिव्य दर्शन केवल मनुष्य योनि में ही संभव है... इसलिए इस अमूल्य जीवन को व्यर्थ न गंवाएं'।

अपने 1952 के नव वर्ष संदेश में उन्होंने कहा था- 'आप रोज सत्संग में आते हैं, सत्संग सुनते हैं। परंतु यह केवल सुनने के लिए नहीं है। आप इस पर मनन-चिंतन भी करें। प्रतिवर्ष एक दिव्य गुण को अपने जीवन में धारण कर अपने जीवन की बगिया को सुरभित, सुवासिक कीजिए। आपके विचार और व्यवहार में सत्य सादगी, सेवा, स्नेह, सहानुभूति और प्रभु स्मरण की सुगंध होनी चाहिए। तभी तो आपका रोज सत्संग में आना सार्थक होगा।'

26 जनवरी को राधाकृष्ण दया चिकित्सालय के वार्षिक समारोह में उन्होंने कहा था- वास्तव में हम सभी बीमार हैं हमें प्रभु नाम की औषधि की आवश्यकता है। यह औषधि, दवाखाने में नहीं सत्संग में मिलती है। सतगुरु रूपी वैद्य की इस औषधि से हमारे सारे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दुख दूर हो जाएंगे।

गांधीजी को श्रद्धांजलि देते हुए उन्होंने कहा था वे केवल राष्ट्रभक्त ही नहीं ईश्वर भक्त भी थे। उनकी आध्यात्मिक ऊंचाइयों के कारण ही उन्हें महात्मा कहा जाता है। वे एक निष्काम, निडर, निष्ठावान, दयालु तथा न्यायपूर्ण नेता थे। उन्होंने भारत माता के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था।

साधु वासवानी सत्संग में रोज किसी न किसी महान संत के दोहों की व्याख्या करते, उनकी जन्मतिथि तथा निर्वाण दिवस पर अनेक आदर्श जीवन पर प्रकाश डालते। कबीर और नानक के दोहों का अक्सर जिक्र करते और उनके अंदर छिपे गूढ़ अर्थ की व्याख्या करते।

गीता पर भी उनकी अडिग श्रद्धा थी और सत्संग में गीता के श्लोकों पर अपनी प्रतिक्रिया और व्याख्या किया करते थे।

वे कहते थे.. ये सारे दुख दर्द और कष्ट प्रभु की उपचार प्रक्रिया है। ये हमारे तन मन को स्वस्थ करने के लिए आते हैं। संसार के सुख और भोग तो हमें रोगी बनाते हैं। इसीलिए तो संत अभाव और दुखों में भी प्रसन्न रहते हैं।

प्रभु के दिव्य नाम की पूंजी ही सच्ची पूंजी है। बिना नाम-स्मरण के सारे सांसारिक कार्य व्यर्थ हैं। यह मानव देह बार-बार नहीं मिलेगी।

अपने सत्संग में रोज हजारों श्रोताओं की जीव नैया के मार्गदर्शक साधु वासवानी अपने समधुर वचनों से उन्हें आध्यात्मिक राह पर खेते रहते थे।

■

11

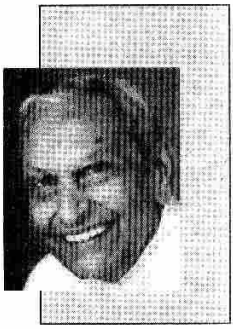

दादा वासवानी

स्नेह और अनुराग की साक्षात मूर्ति दादा. जे.पी. वासवानी, हैं तो साधारण कद-काठी के लेकिन इनका व्यक्तित्व इन्हें हिमालय से भी ऊंचा बना देता है। इनकी मधुर, कोमल और रेशमी आवाज हवा का एक मधुर झोंका है। इनके शब्दों गीतों एवं व्यक्तित्व में दुनिया को एक नई दिशा देने की ताकत है। इनका एकमात्र संदेश है सबसे प्यार करो... उनसे भी, जो आपसे नफरत करते हैं, आपसे द्वेष करते हैं।

जन्म से परिवार में खुशी

विश्व के लाखों दिलों में प्यार का दीप जलाने वाले दादा जशन प्रकृति के प्रत्येक प्राणी के लिए स्नेह और सेवाभाव से भरे हैं।

अगस्त 1918 को हैदराबाद सिंध (पाकिस्तान) में पिता 'पहलाजराव' और माता 'कृष्णा देवी' की ये तीसरी संतान हैं। इनसे बड़ी दो बहनों के बाद इनके जन्म से परिवार में जशन का माहौल था, शायद इसलिए वात्सल्य से भरे माता-पिता ने इन्हें उत्सव, उमंग, उत्साह और उल्लास से भरा हुआ नाम-जशन दे दिया। इनका बाल्यकाल और युवावस्था हैदराबाद और कराची में बीता। देश के बंटवारे ने इन्हें भी अपना वतन छोड़ने के लिए मजबूर किया। साधु टी. एल. वासवानी इनके चाचा थे। साधु टी.एल. वासवानी एक उच्च कोटि के विद्वान थे, जिन्होंने इस संसार से नाता तोड़कर एक संत का जीवन अपना लिया था।

जशन की मां कृष्णा देवी एक निडर व विदुषी महिला थीं। समाज की कई कुरीतियों को इन्होंने दूर किया था। पिता पहलाजराय भी हैदराबाद के विद्वानों में गिने जाते थे। मां और पिता ने अपने बच्चों को सुसंस्कार, धार्मिकता और ईश्वर भक्ति विरासत में दी थी।

प्रतिभा के धनी

जशन को पिता का विद्रोह युवावस्था में सहना पड़ा, परंतु मां ने बड़े ही आत्मविश्वास और दृढ़ता से बच्चों का भाग्य संवारने और निर्धारित करने का भार अपने कंधों पर उठा लिया।

जशन की विद्वता स्कूल के प्रथम पायदान से ही निखरने लगी थी। उनकी इसी दक्षता के कारण उन्हें कई बार आगे की कक्षाओं में प्रमोशन दिया गया। पिता के देहांत के बाद इन्हें कांवेंट छोड़कर सरकारी स्कूल में भर्ती होना पड़ा।

तेरह वर्ष में इन्होंने मैट्रिक की परीक्षा पास कर कालेज में प्रवेश ले लिया। यहां भी हमेशा ये प्रथम ही आते थे। जिंदगी में रोमांच को जीने के लिए इन्हें डफरीन जहाज पर नौसेना की ट्रेनिंग बड़ी आकर्षक लगी। वे उसमें जाने के लिए लालायित थे।

मां की तमन्ना थी कि वे आई.सी.एस. करें। ऊंचा पद प्राप्त करें। परिवार को आर्थिक रूप से संपन्न करें। उन्होंने नन्हें जशन को अपने चाचा के पास भेज दिया। जशन को पूर्ण विश्वास था कि चाचा जी मेरी महत्त्वाकांक्षा और रुचि का ध्यान रखकर मुझे जरूर आज्ञा दे देंगे।

साधु टी.एल. वासवानी ने कहा- अरे ! डफरीन पर तो डफर जाते हैं, तुम यह सब फितूर छोड़ो। तुम्हारा जीवन तो किसी ऊंचे मकसद के लिए है। यह शायद आने वाली पीढ़ियों का सौभाग्य था कि वह घड़ी टल गई... वर्ना दादा जशन अपनी जिंदगी समुद्र की लहरों पर अपना जहाज चलाने में व्यस्त रहते और हम इस संसार समुद्र में दिशाहीन, लहरों में बहते रहते।

कला, गणित, रसायनशास्त्र के अध्ययन से इन्हें मास्टर्स डिग्री प्राप्त हुई। अध्ययन काल में ही चाचा की आध्यात्मिकता इन्हें चुंबक की तरह खींचती थी।

युवा जशन की जिंदगी का वह इक्कीसवां वर्ष था। सन् 1939 में मई माह में श्रीलंका की एक शांति सभा में अपने चाचा साधु वासवानी के साथ गए थे। इसी वक्त खबर आई कि उन्हें डी.जे सिंध कॉलेज में प्राध्यापक बनाया गया है और साथ ही छात्रवृत्ति भी दी गई है। मां को लगा... कि मेरे सपने पूरे हो रहे हैं, अतः समय से पहले ही पहुंचने की आज्ञा दी।

गुरु की शरण में

गुरु के चरणों को छोड़कर उन्हें किसी भी उपलब्धि का मोह नहीं था, परंतु गुरु की आज्ञा थी कि पहले मां की सहमति लो। उन्होंने मां को एक लंबे पत्र में अपने

जीवन का लक्ष्य गुरु चरणों पर पूर्ण समर्पण करने की इच्छा के बारे में बताया, तो मां के सारे संजोए हुए सपने, ताश के पत्तों की तरह बिखर गए।

अपनी सभी इच्छाओं का सदा बलिदान करने वाली बुद्धिमान मां ने तुरंत अनुमति देकर अपने बेटे को अध्यात्म के लक्ष्य पर पहुंचने का आशीर्वाद भी दे दिया। इस तरह यौवनावस्था में ही दादा का दूसरा जन्म हुआ, जिसका उत्कर्ष स्वरूप आज इस जगत को नव-विचार, दिशा और संदेश देने वाले दादा-जे.पी.वासवानी के रूप में मौजूद है।

गुरु के चरणों में रहने की लालसा में इन्होंने अपने शोध की भी अवज्ञा कर दी। जिस 'एक्स किरणों' के शोध पर उन्होंने बरसों मेहनत की थी। दादा के एक मित्र ने जब इसे अपने नाम पर प्रस्तुत करने की इच्छा जाहिर की तो इन्होंने तुरंत स्वीकृति दे दी।

जब यह बात साधु वासवानी के कानों तक पहुंची तो उन्हें यह बात अच्छी नहीं लगी, उन्होंने जशन से कहा 'तुम कराची जाकर अपना शोध ग्रंथ स्वयं प्रस्तुत करो।'

दादा जशन वापिस कराची लौटे और अपनी उच्चकोटि की थीसिस को सर सी.वी. रमन के सामने प्रस्तुत किया।

अपने गुरु के आदर्शों पर चलते हुए उन्होंने अपने गुरु के विचारों को कुछ इस तरह संवारा है कि उनमें एक नई खुशबू और एक नया आकर्षण महसूस होता है।

प्रेम व सेवा

आपकी वकतव्य कला लाखों दिलों को परिवर्तित कर सार्थक जीवन जीना सिखा चुकी है। आपका जीवन दर्शन है प्रेम और सेवा। इसे हर वर्ग का व्यक्ति आसानी से अपने जीवन में धारण कर सकता है।

इनकी वेश-भूषा, इनकी वाणी अत्यंत सादगी भरी हैं। ये कहते हैं शांति पाना कोई दुरूह कार्य नहीं है, बस स्नेह की कुंजी लो और उसे हर समय, हर जगह इस्तेमाल करो, फिर देखो अनंत शांति के द्वार आपके लिए कैस खुल जाते हैं?

साधु वासवानी ने ही सिंध में आजादी का बिगुल बजाया था और लोगों के दिलों में इसके लिए चिंगारी जलाई थी। उनकी लेखनी ने भविष्य के नेताओं को परिष्कृत करने का भी काम किया था। साधु वासवानी ने गांधी जी के अहिंसा व्रत को गहराई से पहचाना था। इससे स्वतंत्रता के साथ-साथ देश की आत्मिक ऊंचाई भी प्राप्त की जा सकती थी। वे देश के हर नागरिक को चाहे वह बच्चा हो, युवा हो या बूढ़ा, ईश्वर की संतान होने का गौरव महसूस करवाना चाहते थे।

देश के भविष्य को संवारने में साधु वासवानी ने कोई राजनैतिक पद न स्वीकार कर, एक फकीर की तरह जी कर, देश-विदेश में अपने महान विचारों, जीवन-मूल्यों और आदर्शों को प्रसारित किया।

युवा जशन ने अपने गुरु के विचारों का मर्म जाना और उन्हें अपने जीवन पथ का आदर्श बना लिया। इनके हृदय में एक अबुझ प्यास है अनुराग की, ज्ञान की। इनमें सहज चैतन्यता है। ये सभी जटिल प्रश्नों के उत्तर सहज सरलता से देकर जीवन की गुत्थियों को सुलझाते हैं। इनकी सारी प्रज्ञा गुरु के विचारों से शुरू होकर, उनके ही चरणों पर समर्पित हो जाती है। अपने गुरु के तत्वज्ञान की असीम संपदा इनके प्रवचनों में बड़ी ही सादगी और सरलता से बहती है।

संवेदनशीलता और उदारता

दादा जशन बचपन से ही बड़े संवेदनशील और उदार थे। वे अपने हिस्से का भोजन उस समय भी गरीबों और जरूरतमंदों में बांट दिया करते थे। पंछियों के लिए दाने बचाना, वे कभी नहीं भूलते थे।

एक बार अपने जन्मदिन पर वे एक ट्रेन (खिलौने वाली) खरीदना चाहते थे। उसकी कीमत थी चौदह आने। उनकी मां ने जब उन्हें एक रुपया दिया तो वे खिलौने वाले की दुकान की तरफ दौड़ पड़े।

रास्ते में उन्हें एक असहाय, लाचार भिखारिन दिखाई दी, जो अपने ज्वर से तपते बच्चे के इलाज के लिए भीख मांग रही थी। जशन उसकी अवज्ञा कर दुकान पर पहुंचे। दुकान वाले ने उनकी मनपसंद रेलगाड़ी चला कर दिखाई... वे मंत्रमुग्ध होकर उसे देख रहे थे। उनके सपने और हकीकत में पल भर का ही तो फासला था। हाथ का सिक्का दुकानदार को देना है और बस ट्रेन का डिब्बा हाथ में।

अचानक बालक जशन दुकान से उतरकर उस दुखिया की तलाश में भागने लगे और जाकर अपनी मुट्ठी में पकड़ा हुआ सिक्का उसे दे दिया। उस दुखियारी मां के चेहरे पर आई एक संतोषपूर्ण मुस्कान का मूल्य उन्हें हजारों ट्रेनों के स्वामित्व से कई गुना ज्यादा लग रहा था।

वे जब घर पहुंचे तो उनके हाथ तो खाली थे, परंतु उनका दिल आत्म संतोष से लबालब भरा था।

दूसरों पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की यह वृत्ति उनके जीवन में कई बार आई। वे जानवरों और पंछियों के प्रति भी उतने ही उदार हैं, जितने मनुष्यों के लिए। एक जख्मी कुत्ते को उठाकर उन्होंने मंत्रोच्चार द्वारा उसके शरीर को सहलाते हुए

शांतिपूर्ण मृत्यु देने का प्रयास किया था। पिंजरे में बंद कई पंछियों को उन्मुक्त आकाश में फिर से पंख फैला कर उड़ने का वरदान दिया।

यज्ञों की पूर्णाहुति में पशुओं की बलि के स्थान पर उन्होंने स्वयं को प्रस्तुत कर दिया था। पंडित गण इस मार्मिक निवेदन से पिघल उठे और पशुबलि की प्रथा को बंद कर दिया।

मांसाहार के विरुद्ध भी इन्होंने आंदोलन चलाया... क्या इन बेजुबान जानवरों को हमारी जुबान के स्वाद के लिए काटना मानवता है? इनकी हिंसा क्या अपराध नहीं है? सन् 1986 में, इन्होंने विश्व स्तर पर साधु वासवानी के जन्म दिवस 25 नवम्बर को पशु अधिकार दिवस घोषित किया। इस दिन विश्व भर के कई लाख व्यक्ति मांसाहारी भोजन का त्याग करते हैं। कई भक्त तो सदा के लिए शाकाहार अपना चुके हैं।

पत्रकारिता में योगदान

यह बात तय है कि अगर दादा अध्यात्म की राह नहीं अपनाते, तो भी वे एक महानलेखक अवश्य होते। प्रकृति ने उन्हें कवि का हृदय, कथात्मक लेखन शैली उपहार में दी है। छात्र जीवन से ही वे कई पत्र-पत्रिकाओं में अपने लेखन के कारण प्रसिद्धि पा चुके थे। उन्होंने सिंध के युवाओं के लिए 'एक्सलसियर' नामक पत्रिका भी निकाली थी। 'ईस्ट एंड वेस्ट' सीरीज भी कई वर्षों से फल फूल रही है दादा की कई पुस्तकें काफी लोकप्रिय हैं।

लेखन के साथ मीरा शिक्षा अभियान की डोर भी दादा अपने कुशल हाथों में थामे हुए हैं। मिशन के प्रचार-प्रसार के लिए दादा की अनवरत यात्रा आज भी जारी है। अंतर्राष्ट्रीय मंच पर दादा के विचारों को बड़े ही आदर से सुना और सराहा जाता है। जीवन के कुछ पल रोज एकांत में अपने परमपिता के साथ भी बिताओ, फिर देखो जिंदगी में सहजता और शांति की धारा कैसे बहती है... यही है दादा की दीक्षा और गुरु मंत्र।

दादा की कुछ स्मृतियां

दादा का संपूर्ण जीवन अद्भुत अनुभवों का एक खजाना है। इनका हर अनुभव एक ऐसा अनमोल रत्न है, जिसमें हर पात्र एक सुंदर सजीव चित्र की तरह मुखर हो उठता है। संतों के अनुभव साधारण मनुष्यों के प्रेरणा स्रोत होते हैं।

पहला प्रयास

दादा जशन जब छोटे थे, तो एक दिन उनके मन में यह विचार आया कि- मैं भी दूसरे बच्चों की तरह मंच पर खड़ा होकर भाषण क्यों न दूं? विचार को अमल में लाने

के लिए, वे रात-दिन अभ्यास करने में जुट गए। मन की लगन बेगवती होने लगी और वे कभी आईने के सामने तो कभी बिस्तर के नीचे रात-दिन बोलने का प्रयास करते। उस वक्त वे स्वयं ही वक्ता और श्रोता होते। बहुत हिम्मत और आत्मविश्वास से, उन्होंने अपना पहला भाषण दिया। आज तो देश विदेश में इनके भाषणों को सुनने के लिए रसिक श्रोता ऐसे दौड़े चले आते हैं, जैसे कमल के आकर्षण में बंधे भंवर खिंचे चले आते हैं।

कर्तव्य बोध

बालक जशन की मां कृष्णा देवी हर रविवार को कढ़ी बनाती थीं। एक रविवार को जब वे कढ़ी बना रही थीं, तो देखा कि गुड़ तो खत्म हो गया है। उन्होंने नन्हें जशन के हाथ पर दुअन्नी रखते हुए कहा-बेटा दौड़ कर जाओ, और बनिए की दुकान से गुड़ ले आना।

राह में जशन को एक तंबू दिखाई दिया, वे कौतूहलवश पास गए तो जाना कि अंदर मुफ्त में कठपुतलियों का नाच दिखाया जा रहा है। बालमन इस आकर्षण को रोक न पाया। और अंदर जाकर उस मनमोहक खेल में इतना रम गया कि घर का कुछ ख्याल न रहा। तमाशा खत्म होने पर जब वह गुड़ लेकर घर पहुंचा तो आत्मग्लानि से भर कर एक कोने में बैठ गया। उसी वक्त मन में यह ख्याल आया कि इस विश्व की जगतजननी मां ने भी तो हमें किसी आवश्यक कार्य से इस पृथ्वी पर भेजा है। उस खास कार्य को पूरा करना ही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए, परंतु हम तो इस संसार के मायावी पदार्थों के लालच में फंसकर उस असली कर्तव्य की अवहेलना कर, अपने जीवन को बर्बाद कर देते हैं। मां जगतजननी के मंतव्य को पूरा करना ही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

टाई को तिलांजलि

दूसरे युवाओं को देखकर जशन का मन भी टाई पहनने के लिए ललचा उठा। पिता तो इस बात के सख्त खिलाफ थे, उन्हें टाई पहनना गुलामी का प्रतीक लगता था। उन्होंने अपनी चाहत मां को बताई। मां ने जब अपने लाड़ले की दिली इच्छा पहचानी, तो सलाह दी कि ऐसा कर- जब टाई पहने तो आगे की सीढ़ी से न उतरकर, पीछे वाली सीढ़ी से उतरकर बाहर जाया कर। पीछे वाली सीढ़ी घर के मेहतर के लिए थी। वहां से जाने पर पिताजी की नजरों से बचा जा सकता था।

जशन जब पहली बार टाई बांधकर आईने के सामने खड़े हुए तो खुद पर ही मुग्ध हो गए। पीछे वाली सीढ़ी से जब वे पिता की नजरों से छुपकर नीचे उतर रहे थे, तो उनके मन ने उन्हें धिक्कारा, कि यह क्या, टाई बांधने के मोह में, मैं वह रास्ता प्रयोग कर रहा हूं जो मेहतर के लिए है। स्वयं को जेंटलमेन समझने के लिए कितनी बड़ी कीमत चुका रहा हूं। साफ सुथरे रास्ते से जाने के बजाय इस पिछले रास्ते से छुप छुपाकर जा रहा हूं। अपनी अंतरात्मा की इस आवाज पर वे ग्लानि से भर उठे। वे स्वयं से इतने शर्मिंदा हुए कि उसी समय टाई उतारकर फेंक दी और कहा, टा-टा-टाई, अब तुम्हें कभी नहीं बांधूंगा और अपनी हस्ती को कभी नहीं भूलूंगा।

दिल की किताब काफी

मैट्रिक की परीक्षा के बाद युवा जशन ने डी.जे.सिंध कॉलेज में दाखिला लिया। उस वक्त वे केवल चौदह वर्ष के थे और उनका कद भी छोटा था। वे एक मेधावी छात्र थे। वे अपना धर्म और जिम्मेदारी पूरी लगन से निभाते थे। विद्याध्ययन और स्वाध्याय में ही उनका अधिकतम समय व्यतीत होता था। इनकी बुद्धिमता और उच्च चरित्र के कारण इनके संगी-साथी तथा प्राध्यापक इनका बहुत स्नेह और आदर करते थे।

पुस्तकें पढ़ने का इन्हें बहुत ही शौक था। कॉलेज के पुस्तकालय में ये रोज एक पुस्तक पूरी पढ़ लेते थे। इनका विश्वास था कि पुस्तकें पढ़ने से जीवन में ज्ञान का प्रकाश जगमगाता है। इन्होंने देश-विदेश के कई महान साहित्यकारों, दार्शनिकों, कवियों की रचनाओं के साथ-साथ वेद-वेदांत, योगदर्शन, उपनिषद, गीता आदि ग्रंथों का भी अध्ययन किया था।

एक दिन जब ये पुस्तकालय में एक बड़ी ही रोचक पुस्तक पढ़ने में लीन थे, तब इनके गुरु साधु वासवानी जी ने इन्हें बुलवाया। संदेशा पाकर इन्होंने सोचा... 2-4 पृष्ठ ही तो बचे हैं, मैं किताब खत्म कर के ही चला जाऊंगा। संदेशवाहक फिर से बुलाने आ गया, ये किताब को अंत तक पढ़ने का लोभ न त्याग सके। अतः जल्दी-जल्दी पढ़ने लगे। अब जब तीसरा संदेशा भी आ गया, तो ये गुरु के चरणों में दौड़ते हुए जा पहुंचे। गुरु ने पूछा जशन! पहले तो तुम संदेशा भेजते ही आ जाते थे, आज तुम्हें कई बार बुलाना पड़ा क्यों? मैं एक बहुत ही सुंदर पुस्तक पढ़ रहा था। पुस्तक ने मुझे इस तरह बांध दिया था कि बिना पूरी पढ़े, उठने का दिल नहीं कर रहा था। इस पर गुरुदेव ने कहा।

है तू वास्तव में अलख का,
दिल की किताब है काफी!

अंतर्मुखी के लक्षण

दादा जशन ने कराची से एम.एस.सी. की परीक्षा पास करने के बाद एल.एल.बी की पढ़ाई भी शुरू कर दी थी। यह सन् 1937 की बात है, तब साधु वासवानी कराची में बंदर रोड एक्सटेंशन पर एक प्रेमी भक्त दीवान गोपालदास जगत्यानी के घर पर रुके हुए थे। वे जहां रोज सत्संग करते थे।

युवा जशन रोज गाड़ी खाने से चार मील पैदल चल कर सुबह शाम इस सत्संग में सम्मिलित होते थे। हाथों से काम और दिल में गुरु का नाम।

सत्संग समाप्ति के बाद वे कुछ देर गुरु के चरणों में बैठकर अपनी आत्मा को शांति देते। जब गुरुदेव अंदर कमरे में ध्यान-मग्न रहते तो ये बाल्कनी में बैठकर पुस्तकें पढ़ते। उनके कान हमेशा इस इंतजार में रहते कि पता नहीं कब गुरुदेव मुझे पुकार लें।

एक दिन जब वे गुरु जी के चरणों में बैठे थे तो... उन्होंने पूछा गुरुदेव अंतर्मुखी कैसे बनें? गुरुदेव ने प्रेम भरी आंखों से जशन की ओर देखकर कहा- अंतर्मुखी बनने के लिए तीन गुणों को अपनाना होगा।

उनमें पहला है- नम्र बनो। सच्चे जिज्ञासु का पहला लक्षण है विनम्रता।

दूसरा है आज्ञाकारिता... गुरु की आज्ञा का पालन बिना किसी शंका के करना।

तीसरा लक्षण है- प्यास, जिस दिल में एक व्याकुल प्यास नहीं भड़की, वह अध्यात्म की राह पर एक कदम भी नहीं चल पाएगा।

इन अनमोल उपदेशों पर वे सारी राह मनन करते हुए, वापस अपने घर पैदल जाते। गुरु की बातों का चिंतन करते हुए कब, वे चार मील का रास्ता तय कर लेते, यह उन्हें पता ही नहीं चलता।

गुरु के इस आध्यात्मिक संसर्ग में जो-जो अनमोल मोती बरसते, उन्हें वे अपने हृदय रूपी सीप में सहेज लेते। आज उन्हीं अमूल्य मोतियों की बरसात वे पूरे विश्व में कर...मानवता को नई राह दिखा रहे हैं। अध्यात्म की राह के प्यासे पथिक इस अलौकिक सौगात को, बिना मूल्य दिए, अपने हृदय की सीपियों में सजा कर स्वयं को धन्य मान रहे हैं।

■

12

कृपालु जी महाराज

जिस दिन जीव को यह दृढ़ विश्वास हो जाएगा कि भगवान और भगवान का नाम एक ही है और दोनों में एक सी शक्तियां व एक से गुण हैं उसी क्षण उसे भगवत्प्राप्ति हो जाएगी। यह कहना है भारत के पांच सौ शीर्षस्थ शास्त्राज्ञ वैदज्ञ विद्वानों की सभा काशी विद्वत परिषद् के द्वारा 'जगदगुरू' की मानद उपाधि प्राप्त श्री 1008 स्वामी कृपालु महाराज का। गीता के अनुसार निरन्तर कर्म करते हुए मन का भगवान श्रीकृष्ण में लगा रहना ही कर्मयोग है। कर्मयोग का यह सिद्धान्त कृपालु महाराज के दर्शन का मूल तत्त्व है। उनका कहना है कि विश्व का प्रत्येक व्यक्ति सुख-शांति चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति को बहिरंग शरीर हेतु भौतिकता एवं आत्मा संबंधी अंतरंग मन हेतु आध्यात्मिकता की अनिवार्य आवश्यकता है। भौतिकता के द्वारा शरीर को स्वस्थ रखना तो सभी जानते हैं किन्तु आत्मा संबंधी मन की शुद्धि हेतु अध्यात्म ज्ञान से अधिकांश व्यक्ति अपरिचित हैं। अतएव वह इस अध्यात्म ज्ञान के द्वारा जन-जन का कल्याण करना चाहते हैं।

जगदगुरू श्री 1008 स्वामी कृपालु महाराज का जन्म सन् 1922 की शरद् पूर्णिमा को प्रतापगढ़ (उत्तर-प्रदेश) जिले के मनगढ़ नामक ग्राम में ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनका मूल 'नाम रामकृपालु त्रिपाठी' है। इनके पिता का नाम 'श्री ललिता प्रसाद त्रिपाठी' एवं माता का नाम 'श्रीमती भगवती त्रिपाठी' था। कृपालु महाराज की प्रारम्भिक शिक्षा मनगढ़ एवं कुंडा में हुई। तत्पश्चात् इन्होंने इंदौर, चित्रकूट एवं वाराणसी में व्याकरण, साहित्य एवं आयुर्वेद का अध्ययन किया। इनका विवाह 13 वर्ष की अल्पायु में ही कर दिया गया था। बाद में वह किसी अज्ञात प्रेरणा से अपना सर्वस्व त्याग कर विरक्त हो गए और मात्र 16 वर्ष की आयु में ही अज्ञातवास के लिए

चले गए। अपने अज्ञातवास के दौरान उन्होंने चित्रकूट के निकटवर्ती जंगल में रहकर कठोर साधना की। कालान्तर में वह जगह-जगह भगवतीय संकीर्तन करा कर श्रीकृष्ण भक्ति का प्रचार करने लगे। अपने अज्ञातवास के दौरान महाराज श्री का मन पता नहीं कहां चला गया था, जिसके कारण वह अपने हाथ से भोजन करना तक भूल गए थे। अतः उनके भक्तों ने अपने हाथ से उन्हें भोजन करना सिखलाया। अज्ञातवास के बाद कृपालु महाराज का जीवन अत्यन्त विचित्र हो गया था। वह किसी एक स्थान विशेष पर कभी भी नहीं रहा करते थे। वह एक घर में सोते, दूसरे घर में नाश्ता करते और तीसरे घर में भोजन करते थे।

जिस घर में वह स्नान करते थे, उस घर के व्यक्तियों के वस्त्र पहनकर और पहले के वस्त्र वहीं छोड़कर वह आगे बढ़ जाते थे। वह कहीं ढीली-ढाली पेन्ट में, कहीं अत्यन्त चुस्त कुर्ते-पाजामे में, तो कहीं अन्य कपड़ों में देखे जाते थे। महाराज श्री संकीर्तन कराते-कराते इतने भाव विभोर हो जाते थे कि उन्हें अपना होश ही नहीं रहता था। कभी-कभी तो वह जमीन पर गिर जाते थे। जब उन्हें होश आता तो वह उठकर खड़े हो जाते और पुनः संकीर्तन कराने लगते।

कृपालु महाराज शुरू से ही अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं। जब उनकी साधना का प्रारम्भिक दौर था, तब भी लोग अपना घर-बार छोड़ कर उनके पीछे चल देते थे। इस समय तो देश-विदेश में उनके लाखों अनुयायी हैं। महाराज श्री की पत्नी श्रीमती (अम्मा जी) अत्यन्त विदुषी महिला हैं। उनकी सुपुत्रियों विशाखा, श्यामा एवं कृष्णा ने आजीवन अविवाहित रहकर अपने पूज्य पिता के पद-चिन्हों पर चलने का संकल्प लिया हुआ है। महाराज श्री के सुपुत्र बाल-कृष्ण त्रिपाठी कई वर्षों पूर्व साधना करने के उद्देश्य से अपने घर से अज्ञातवास के लिए निकल गए थे। महाराज श्री के दूसरे सुपुत्र धनश्याम त्रिपाठी भी एडवोकेट होने के बावजूद धर्म प्रचार में जुटे हुए हैं।

जगद्गुरू श्री 1008 स्वामी कृपालु जी महाराज की अद्वितीय विद्वता से प्रभावित होकर भारत के पांच सौ शीर्षस्थ शास्त्रज्ञ वैदज्ञ विद्वानों की सभा काशी विद्वत परिषद ने उन्हें वाराणसी में अपने यहां प्रवचन देने हेतु बुलाया। महाराज श्री ने यहां 14 जनवरी, 1957 को संस्कृत भाषा में जो विलक्षण प्रवचन दिया, उसे सुनकर वहां उपस्थित सभी विद्वान अचंभित रह गए। काशी विद्वत परिषद् के अध्यक्ष 'महामंडोपाध्याय श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी' ने उन्हें 'जगद्गुरू' की मानद उपाधि से अलंकृत किया। साथ ही उन्होंने उपाधि पत्र में यह लिखा कि कृपालु जी महाराज जगद्गुरूओं में भी सर्वोत्तम हैं अर्थात् वह 'जगद्गुरूत्तम' हैं। **'धन्योमान्य जगद्गुरूत्तम पदैः सोऽयंसमभ्यर्चयते।'** इस अवसर पर महाराज श्री को जगद्गुरू संबंधी एक रजत सिंहासन, छत्र एवं पादुकायें

आदि भी प्रदान की गई जिन्हें कि उन्होंने सन 1962 में भारत-चीन युद्ध के समय राष्ट्रीय रक्षा कोष में दान कर दिया। महाराज श्री को जब जगद्गुरू की यह उपाधि प्रदान की गई उस समय उनकी आयु मात्र 34 वर्ष की थी।

महाराज श्री का कोई भी गुरु नहीं है। अतएव उनकी आराध्या राधा रानी को ही उनका गुरु माना जा सकता है। वह किसी पारम्परिक धार्मिक सम्प्रदाय में भी दीक्षित नहीं हैं और न ही उन्होंने किसी नए सम्प्रदाय या पंथ की ही स्थापना की है। समस्त वैष्णव सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का समन्वय ही उनकी काव्य साधना एवं उपदेशों का आधार है।

उनकी साधना पद्धति एवं मान्यताओं पर सापेक्षिक दृष्टि से चैतन्य महाप्रभु के वैष्णव सम्प्रदाय का सर्वाधिक प्रभाव है। वह सम्प्रदाय विशेष की आरोपित मान्यताओं से मुक्त हैं। उनके जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति का अद्भुत संगम दिखाई देता है। वे गृहस्थाश्रम धर्म का पालन करते हुए भी सांसारिक व्यवहार में आसक्ति न रखने की आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं। उनकी यह मान्यता है कि जैसे धुरी स्थिर रहती है और पहिया घूमता है, वैसे ही हमें अपना मन भगवान् में स्थिर रखकर संसार के कार्य करने चाहिए। उन्होंने समस्त भगवद् अवतरों को अभिन्न मानकर उनके प्रति आदर व्यक्त किया है। उन्होंने अपने जीवन में भी समन्वयात्मक दृष्टि अपनाई है। महाराज श्री ने वर्तमान युग में अवरूद्ध भक्तिधारा को भी गति प्रदान की है। साधना सत्संग के कार्यक्रमों में उनके साधक, सिद्ध और निर्देशक तीनों ही स्वरूप दिग्दर्शित होते हैं।

स्वामी कृपालु जी महाराज कुशल लेखक भी हैं। भक्ति शतक, ब्रज रस माधुरी, सेवक सेव्य सिद्धान्त, प्रवचन-माधुरी, प्रेम रस सिद्धान्त एवं प्रेम रस मदिरा उनके अब तक प्रकाशित प्रमुख ग्रन्थ हैं। प्रेम रस सिद्धान्त नामक ग्रंथ का अंग्रेजी अनुवाद 'फिलासफी ऑफ डिवाइन लव' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रंथ के अनुवाद सिन्धी, तेलगू, उड़िया, गुजराती और मराठी भाषाओं में भी प्रकाशित हो चुके हैं। 'भक्ति शतक' नामक ग्रंथ का अंग्रेजी अनुवाद 'हन्ड्रेड गेम्स ऑफ डिवायन लव' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इसके अलावा महाराज श्री के प्रवचनों व उनके पदों आदि की अनेक ऑडियों-वीडियों कैसेट्स व सी.डी. आदि रिलीज हो चुकी है। महाराजश्री के संरक्षण में मनगढ़ से 'अध्यात्म-संदेश' नामक पत्रिका का भी प्रकाशन किया जा रहा है।

जगद्गुरू कृपालु जी महाराज के द्वारा अध्यात्म एवं मानव सेवा के क्षेत्र में किए जा रहे विशिष्ट सेवा कार्यों से प्रभावित होकर आल इंडिया सिटीजन काउन्सिल, दिल्ली ने उन्हें सन, 1993 में आल इंडिया सिटीजन अवार्ड प्रदान किया था। जगद्गुरू कृपालु

जी महाराज और उनके काव्य पर जबलपुर विश्वविद्यालय से सन् 1978 में श्री विष्णु प्रसाद नेमा को पी.एच.डी. की उपाधि भी प्राप्त हो चुकी है।

सामाजिक कार्य

विश्व शांति हेतु विश्व बंधुत्व की आज महती आवश्यकता है। 'य आत्मनि तिष्ठति' इस वैदिक सिद्धान्त के अनुसार सभी जीवों में ईश्वर का निवास है। यदि यह बात मनुष्य स्वीकार कर ले तो इस पृथ्वी के सारे झगड़े समाप्त हो जाएं और विश्व शांति का मार्ग प्रशस्त हो जाए। इसी उद्देश्य से कृपालु जी महाराज ने उत्तर-प्रदेश के कुंडा हरनाम गंज (प्रतापगढ़) से 10 कि.मी. दूर मनगढ़ में 'साधना भवन', वृंदावन (मथुरा) के रमणरेती क्षेत्र में 'श्यामा श्याम धाम' एवं बरसाना (मथुरा) में 'रंगीली महल' की स्थापना की हुई है। जिसमें साधकों को उपर्युक्त तत्त्वज्ञान के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की निष्काम भक्ति की क्रियात्मक साधना कराई जाती है एवं विश्व बंधुत्व की भावना को दृढ़ किया जाता है। इन तीनों ही संस्थाओं के उद्देश्य वैदिक दर्शन के अनुसार मनुष्य को उसके कल्याण का रास्ता बताना, भौतिकवाद व अध्यात्मवाद के समन्वयात्मक सिद्धान्त के अनुसार परमानंद प्राप्ति का पथ प्रशस्त करना, सगुण साकार भगवान् श्रीकृष्ण की निष्काम भक्ति का प्रचार करना, शास्त्रों व वेदों आदि के गूढ़ तथ्यों को उद्घाटित करना एवं मनुष्यों के शारीरिक, पारिवारिक, सामाजिक उत्थान के साथ-साथ राष्ट्र व विश्व का उत्थान करना भी है। यह तीनों ही संस्थायें समाज सेवा के भी अनेकों कार्य कर रही हैं। कुंडा हरनाम गंज (प्रतापगढ़) में 'कृपालु बालिका इंटर कॉलेज' एवं 'कृपालु महिला महाविद्यालय' चलाया जा रहा है। वृंदावन में संस्कृत छात्रों का निःशुल्क छात्रावास संचालित किया जा रहा है।

पिछले 50-60 वर्षों से श्री जगद्गुरु कृपालु जी महाराज जीव कल्याणार्थ अथक प्रयास कर रहे हैं। वैदिक सिद्धांतों को सर्वसाधारण तक पहुंचाने हेतु भागीरथ प्रयास कर रहे हैं,

अलौकिक दिव्य प्रेम प्राप्ति हेतु प्रेरणा प्रदान करने के साथ-साथ आचार्य श्री अपने कृपालु नाम को चरितार्थ करते हुए निर्धन ग्रामवासियों तथा अन्य पीड़ित वर्ग के प्रति अत्यधिक उदारता का व्यवहार करते हैं।

'सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कविन पै, कहा न जाना।'

किसी को भी दुखी देखकर तुरन्त द्रवीभूत हो जाते हैं। अतः आचार्य श्री जीवों के उभय पक्षीय कल्याण हेतु कटिबद्ध हैं। इसको क्रियात्मक रूप देने के लिए आपने एक वृहद अंतर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित की है- जगद्गुरु कृपालु परिषद में अथक परिश्रम एवं

प्रेरणा से अनेक प्रकार के आध्यात्मिक एवं सामाजिक कार्य किए जाते हैं। श्री गुरुवर ने जीवों के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्षों के कल्याण हेतु **'भूमि तरु सम सन्त कृपाला। परहित सह नित विपति विसाला'**। तुलसीदास जी की इस बात को चरितार्थ करते हुए अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है मानो पूर्ववर्ती महापुरुषों की सम्मिलित करूणा घनीभूत होकर आपके श्री अंगों में अवतरित हो गई है। अतः अमूर्त करूणा का मूर्त रूप जगद्वंद्य आचार्य श्री के सर्वदर्शन समन्वयात्मक सिद्धांत का सार सेवा इन दो अक्षरों में समाविष्ट है।

आपने समाज के अभाव ग्रस्त एवं पीड़ित जीवों के कल्याणार्थ ही वृहद् मानव सेवा अभियान प्रारंभ किया है। तदर्थ मनगढ़ स्थित जगद्गुरु कृपालु धर्मार्थ चिकित्सालय द्वारा हजारों गरीबों को निशुल्क चिकित्सा हो रही है। ऐसे ही एक चिकित्सालय का ब्रजमंडल के भक्तों के सेवार्थ रंगीली महल प्रतिष्ठान, बरसाना में जगद्गुरु दिवस स्वर्ण जयन्ती के पावन पर्व अर्थात् 14 जनवरी, 2007 से प्रारंभ किया गया है। वृंदावन में भी इसी प्रकार के चिकित्सालय का निर्माण कार्य शीघ्रातिशीघ्र प्रारंभ हो रहा है।

इसके अतिरिक्त परिषद् द्वारा समय-समय पर स्वास्थ्य शिविर आयोजित किए जाते हैं। आवश्यकतानुसार वस्त्र, बिस्तर, भोजन व निर्धन ग्रामीणों की कन्याओं के विवाह आदि की भी पूर्ण व्यवस्था की जाती है।

कलियुग में दान व सेवा का अत्याधिक महत्व है। अतः वृहदरूप से ब्रह्मभोज, साधुभोज करवाकर साधकों को दान व सेवा का अवसर प्रदान किया जाता है।

आज परिषद् के द्वारा किए जा रहे जनकल्याण के कार्यों की रूपरेखा एवं व्यापकता को देखकर सारा विश्व चकित है। परिषद् की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आज भारत ही नहीं विश्व के अन्य देशों में भी इसके केन्द्र, उपकेन्द्र, शाखा, प्रशाखाओं की संख्या शताधिक हो चुकी है। आचार्य श्री के निर्देशन में संस्था सामाजिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की सेवाओं का विस्तार करती जा रही है।

समय-समय पर निःशुल्क नेत्र चिकित्सा शिविर आयोजित किए जाते हैं। जीविका उपार्जित करने के आकांक्षी साधकों को विभिन्न घरेलू उद्योग धन्धों का प्रशिक्षण देकर उन्हें आत्म-निर्भर बनाया जाता है। इन तीनों ही संस्थाओं के द्वारा विभिन्न जाति-सम्प्रदाय के अनेकानेक प्रचारक भी तैयार किए जा रहे हैं, जो कि न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी श्रीकृष्ण भक्ति के द्वारा विश्व शांति का संदेश प्रसारित कर रहे हैं। महाराज श्री के निर्देशन में मनगढ़ में 'भक्ति मंदिर' का निर्माण कराया जा चुका है और वृंदावन के छटीकरा रोड पर 'प्रेम मंदिर का निर्माण कराया जा रहा है।'

विशेष- जगद्गुरु श्री कृपालु जी महाराज द्वारा प्रकट किया गया साहित्य विलक्षण है। भक्ति संबंधी शास्त्रीय सिद्धांतों का निरूपण अत्यधिक सरल, सरस और हृदयग्राही भाषा में किया गया है। विश्व का प्रत्येक जीव आनन्द ही चाहता है, किंतु वह आनन्द क्या है? कहां है? कैसे मिल सकता है? इत्यादि प्रश्नों का सही उत्तर न जानने के कारण ही सभी जीव आनन्द से वंचित हैं।

कृपालु जी महाराज के साहित्य में विरोधी सिद्धांतों का सुन्दर सरल भाषा में समन्वय कर समझाने का प्रयास किया गया है। अतएव इनके ग्रंथों में सभी आचार्यों ने वेद शास्त्रों के प्रमाणों के साथ-साथ दैनिक अनुभवों के उदाहरणों द्वारा सर्वसाधारण के लाभ को दृष्टिकोण में रखते हुए विषयों का निरुपण किया है। इनके साहित्य के विषय में कुछ भी लिखना प्राकृत बुद्धि से संभव नहीं है। आचार्य श्री एक नवोन्मेश हैं, नए मनुष्य के, नयी मनुष्यता के।

इनका साहित्य पढ़ने मात्र से ही हृदय श्रीराधा कृष्ण प्रेम में विभोर हो जाता है तथा युगल झांकी के दर्शन की लालसा तीव्रतर हो जाती है। आपका प्रत्येक ग्रंथ गागर में सागर ही है, ऐसा प्रेमरस सिन्धु है, जिसमें शुष्क से शुष्क हृदय भी रस में डूब जाता है। अनेक विश्वविद्यालयों में इनके साहित्य पर शोध कार्य चल रहा है।

■

13

भक्ति वेदान्त श्रील प्रभुपाद

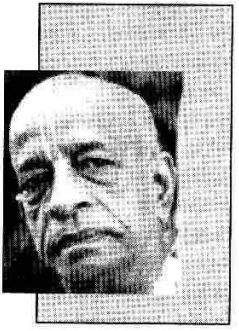

अंतर्राष्ट्रीय श्रीकृष्ण भावनामृत संघ (इस्कॉन) के संस्थापक 'ए.सी. भक्ति वेदान्त स्वामी श्रील प्रभुपाद' ने भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रचार करने के उद्देश्य से परिव्राजक के रूप में विश्व के छह महाद्वीपों की चौदह परिक्रमाएं की थीं। उन्होंने विश्व के सभी प्रमुख नगरों में 300 से अधिक मंदिर, कृषि क्षेत्र और गुरुकुल आदि स्थापित किए। उनके द्वारा स्थापित श्रीकृष्ण भावनामृत संघ (इंटर नेशनल सोसाइटी फॉर कृष्णा कॉन्शसनेस) सनातन धर्म के संदेश को श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीमद्भागवत के द्वारा दुनिया भर में फैलाने के लिए समर्पित है। प्रभुपाद जी के अथक परिश्रम का ही यह सुफल है कि उनके सत्प्रयासों से 'इस्कॉन' ने विश्व व्यापी श्रीकृष्ण भावनामृत आंदोलन का रूप धारण किया हुआ है।

जन्म तथा परिवार

भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपाद का जन्म 1 सितंबर सन् 1896 को कोलकाता के एक बंगाली परिवार में हुआ था। उनके माता-पिता ने उनका नाम 'अभय चरण' रखा। उनके पिता 'गौर मोहन डे' एक कपड़ा व्यापारी थे। उनकी मां का नाम 'श्रीमती रजनी डे' था। उनके माता-पिता शुद्ध वैष्णव थे। जब वह मात्र छह वर्ष के थे तभी उनके पिताजी ने उन्हें राधा-कृष्ण की प्रतिमा का एक जोड़ा पूजा के लिए दे दिया था। जिन दिनों वे कॉलेज में पढ़ रहे थे उन्हीं दिनों उनका 'राधा रानी' नामक कन्या के साथ विवाह हो गया। राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के संपर्क में आकर वह खादी पहनने लग गए। उन्होंने सन् 1920 में परीक्षा उत्तीर्ण करने के

बावजूद भी पराधीन भारत में अपना डिप्लोमा लेने से इंकार कर दिया। बाद में वह कोलकाता में नौकरी करने लगे।

गुरु की प्राप्ति

प्रभुपाद जी सन् 1922 में सुप्रसिद्ध धैर्य तत्ववेत्ता एवं 64 गौड़ीय मठों के संस्थापक 'श्रील भक्ति सिद्धांत सरस्वती' के सम्पर्क में आए, तथा 1933 ई. प्रयाग (इलाहाबाद) में उनके विधिवत शिष्य बन गए। जिन्होंने कि उनसे 'चैतन्य महाप्रभु' के संदेश को विश्व भर में प्रसारित करने के लिए कहा। तत्पश्चात् उन्होंने भक्ति सिद्धांत सरस्वती से विधिवत् दीक्षा प्राप्त करके उन्हें अपना गुरु मान लिया।

अंग्रेजी भाषा में वैदिक ज्ञान का प्रचार-प्रसार

श्रील भक्ति सिद्धांत सरस्वती ने अभय चरण डे को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से वैदिक ज्ञान का प्रचार-प्रसार करने के लिए प्रेरित किया। अतएव अभय चरण डे ने इलाहाबाद में औषधि विक्रेता का कार्य करने के साथ-साथ श्रीमद्भगवद्गीता पर अंग्रेजी भाषा में टीका लिखी, गौड़ीय मठों के कार्यों में भरपूर हाथ बंटाया और सन् 1944 में बिना किसी की सहायता के 'बैक टू गॉडहेड' नामक पाक्षिक पत्रिका निकाली जिसका संपादन, पाण्डुलिपी का टंकण और मुद्रित सामग्री के प्रूफ शोधन का सारा कार्य वे स्वयं करते थे। उन्होंने एक-एक प्रति निःशुल्क बांटकर भी इसके प्रकाशन को बनाए रखने के लिए संघर्ष किया। एक बार आरंभ होकर फिर यह पत्रिका कभी बन्द नहीं हुई। अभय चरण डे के दार्शनिक ज्ञान एवं उनकी भक्ति से प्रभावित होकर गौड़ीय वैष्णव समाज ने उन्हें सन् 1947 में 'भक्ति वेदान्त' की उपाधि देकर सम्मानित किया। इसके अलावा उन्होंने 'अन्य लोकों की सुगम यात्रा' नामक पुस्तिका भी लिखी थी।

'लीग ऑफ डिवोटीज' की स्थापना

श्रील प्रभुपाद ने अपनी 56 वर्ष की आयु में अपने गुरु के आदेशों का गंभीरता के साथ पालन करना शुरू किया। उन्होंने झांसी में आध्यात्मिक संयुक्त राष्ट्र संगठन का लिखित चार्टर तैयार करके अपने आध्यात्मिक आंदोलन का 'लीग ऑफ डिवोटीज' के नाम से रजिस्ट्रेशन करा लिया। इसी दौरान उनके इलाहाबाद स्थित व्यापारिक संस्थान में चोरी हो गई, जिससे उनकी सबसे बड़ी आसक्ति (व्यापार) का अंत हो गया। चोरी हो जाने के बाद उन्होंने यह महसूस किया कि श्रीमद्भागवत में भगवान श्रीकृष्ण द्वारा